

संस्कृति

(राज्य विशेषांक)



सत्यमेव जयते

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय

अंक 20 : अर्द्धवार्षिक



गणतंत्र दिवस, 2015 में पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर की प्रथम पुरकार प्राप्त झांकी



संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिभारतीया



सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

संरक्षक :

रवीन्द्र सिंह, सचिव, संस्कृति मंत्रालय

परामर्शदाता :

के.के. मित्तल, अपर सचिव, संस्कृति मंत्रालय

श्रेया गुहा, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय

संपादक :

वेद प्रकाश गौड़, निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

उप संपादक :

गिरीश चन्द्र पाण्डे, उप निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

सहायक संपादक :

मनोज कुमार सिन्हा, सहायक निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

सहयोग :

नीलमणि शर्मा, निजी सचिव, संस्कृति मंत्रालय

बालकृष्ण पाराशर, वैयक्तिक सहायक, संस्कृति मंत्रालय

वर्ष : 2015

अंक : 20 (तीन हजार प्रतियाँ)

केवल निःशुल्क सीमित वितरण के लिए

मंत्रालय की वेबसाइट www.indiaculture.nic.in पर भी उपलब्ध

मुख्य आवरण :

दस सिख गुरु, महाकाल और महाकाली-
श्री गुरुग्रंथ साहिब का एक पृष्ठ, 1839 ई.
साभार: राष्ट्रीय संग्रहालय

चित्रकार :

परितोष सेन

साभार :

ललित कला अकादेमी

अंतिम आवरण :

रंग संयोजन, कैनवास पर तैल रंग, 90X120सें.मी.
चित्रकार: डॉ. अवधेश मिश्र, लखनऊ

संपादकीय पता :

वेद प्रकाश गौड़, निदेशक (रा.भा.)

केंद्रीय सचिवालय ग्रंथागार, भूतल,

शास्त्री भवन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,

नई दिल्ली-110001

टेली-फैक्स : 91 11 23383032

ई-मेल : dirol-culture@nic.in

‘संस्कृति’ में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।



सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय

शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001



दक्षिण मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, नागपुर द्वारा गणतंत्र दिवस, 2015 पर प्रस्तुत झांकी

अनुक्रम



जम्मू-कश्मीर में प्रथम धर्मचक्र स्तूप
डॉ. प्रकाश कुमार

7



हिमाचल प्रदेश का नरमेध महायज्ञ भूंडा
डॉ. मनोरमा शर्मा

10



कला और सौंदर्य बोध का प्रतीक हरिमंदिर साहिब
डॉ. रमेश सोबती

15



उत्तराखंड की जनजातियाँ
देवेन्द्र उपाध्याय

20



हरियाणा में रचित संत साहित्य : एक दिग्दर्शन
रामशरण युयुत्सु

25



कलासौध कोणार्क
डॉ. अर्जुन शतपथी

31



सांस्कृतिक समन्वय के महान कवि: अमीर खुसरो
डॉ. राजेन्द्र गौतम

34



तमिलनाडु में मंदिर संस्कृति का विकास
डॉ. एम. शेषन

42



आंध्र नाट्य
बुक्कूर वेंकट राव

47



स्वाधीनता सेनानियों का तीर्थस्थल सैल्यूलर जेल
डॉ. जगदीश सिंह मन्हास

50



झारखंड के शैल-चित्र
डॉ. सुधांशु शेखर मिश्र

54



असम की कार्बी रामायण 'छाबिन आलुन'

डॉ. जुरी देवी

57



अरुणाचल का गालो जनजीवन

रजनी कान्त पाण्डेय 'व्याकुल'

60



बिहार की लोक चित्रकला

सुबोध कुमार नन्दल

64



केरल की विशिष्ट नाट्य शैली कथकली

डॉ. मोहनन वी.टी.वी.

70



विश्व विरासत सांची का स्तूप

डॉ. सर्जुन प्रसाद

73



रवीन्द्रनाथ का जोड़ासांको

डॉ. जलज भादुड़ी

76



मध्यकालीन गुजरात की सांझी विरासत: चंपानेर की मस्जिदें

राजेश कुमार सिंह

82



सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करता पूर्वोत्तर भारत

अखिलेश आर्येन्दु

86

भारतीय डाक



आपका पत्र मिला

93



संपादकीय



भारत विविधताओं से भरपूर लेकिन सदैव विविधता में एकता भाव वाला देश है। यहां पर हमें विभिन्न जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, रीति – रिवाज, सम्प्रदाय का एक अनूठा संगम देखने को मिलता है और यही इस देश की सांस्कृतिक धरोहर है जो इस राष्ट्र में प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति, परोपकार जैसे उदात्त भावों के रूप में निरंतर संचारित होती रहती है।

‘संस्कृति’ पत्रिका का यह अंक इसी भावना पर केन्द्रित है कि किस प्रकार विभिन्न राज्य जलवायु, रहन-सहन, खान-पान और सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पृथक्-पृथक् होने के बावजूद अपनी अस्मिता को संजोए हुए आपस में राष्ट्रीय गरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए सदैव भारत की ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना को पुष्ट करते रहे हैं। यद्यपि पत्रिका में भारत जैसे विशाल देश की अनुपम एवम् विशिष्ट संस्कृति, जिसमें 29 राज्य तथा 7 केन्द्रशासित प्रदेश शामिल हैं, को एक साथ समेटना संभव नहीं है, फिर भी हमने सुधी पाठकों के सम्मुख विभिन्न राज्यों की सांस्कृतिक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।


सुधी पाठक यदि इस अंक का आद्योपान्त अध्ययन, मनन और चिंतन करेंगे तो पाएंगे कि विद्वान लेखकों ने किस प्रकार अपनी लेखन क्षमता का पूर्ण परिचय देकर सम्बंधित राज्य की लोककला, संगीत, नाट्य, चित्रकला, पर्व – त्योहार जैसी अमिट सांस्कृतिक विरासत से हमारा परिचय कराया है। साथ ही लेखकों ने राज्य के बारे में कई अन्य महत्वपूर्ण जानकारियां भी दी हैं जो निःसन्देह ज्ञानवर्धक हैं, मसलन, एक ओर जम्मू में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा कराए गए पुरातात्विक अन्वेषण एवं उत्खनन के दौरान आठ तिल्लियों वाले धर्मचक्र स्तूप का पहली बार पता चला है जो प्राचीन बौद्ध स्थापत्यकला का बेजोड़ नमूना है तो दूसरी ओर हिमाचल प्रदेश का नरमेध महायज्ञ ‘भूँडा’ का सविस्तार वर्णन करते हुए उसे वैदिक संस्कृति का ही रूप माना गया है। साथ ही इसमें विभिन्न जातियों का बिना किसी भेदभाव के भाग लेना सामाजिक समरसता को प्रकट करता है। इसी प्रकार स्वर्ण मंदिर के रूप में ज्ञात हरिमंदिर साहिब के निर्माण, इसके माहात्म्य, वास्तुकला, आंतरिक सज्जा पर भी विशद प्रकाश डाला गया है। उत्तराखंड की जनजातियों के अंतर्गत पांच आदिवासी समूहों की अलग-अलग सांस्कृतिक विशेषताओं को उकेरते हुए लेखक द्वारा साथ में यह जानकारी देना भी महत्वपूर्ण है कि राज्य के आदिवासी समूहों और गैर-आदिवासी समूहों के बीच जो परस्पर अटूट संबंध है, उसके मूल में विश्वास ही है।

लेखक ने हजारों एकड़ जमीन के मालिक थारु बुक्सा जनजातियों के भूमिहीन होने और उनके गरीबी, अशिक्षा, बेकारी तथा तमाम बुनियादी सुविधाओं के अभाव में जीवन जीने की बाध्यता का भी उल्लेख किया है। हरियाणा में रचित संत साहित्य पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लेखक ने संत की विशद व्याख्या की है और इस साहित्य को जन जीवन का साहित्य बताया है। लेखक द्वारा हरियाणा की पवित्र धरती पर अनेक ऋषि-मुनियों, संतों तथा संसार को सन्मार्ग दिखाने वाली विभूतियों की भी पर्याप्त जानकारी प्रामाणिकता के साथ दी गयी है। आंध्र नाट्य के अंतर्गत नाट्यकला के दो रूपों यथा ‘नट्टुव मेलम’ और ‘नाट्य मेलम’ के प्रचलन में होने का उल्लेख करते हुए प्रथम नाट्य कला का सम्बन्ध स्त्रियों से जबकि दूसरी नाट्यकला को पुरुषों के साथ जोड़ा गया है। इन नाट्यशैलियों में रामायण, महाभारत, महाभागवत तथा पुराणों की कहानियों को मंचित किया गया है।

‘अरुणाचल का गालो जनजीवन’ में प्रदेश को जनजातीय बहुल प्रदेश बताते हुए उसकी विस्तार से जानकारी दी गई है और वहां की विभिन्न जनजातियों की उप-जातियों का भी नामोल्लेख किया गया है। विशेष रूप से उपजाति ‘गालो’ की जानकारी देते हुए इस जनजाति की राजनीति, व्यापार, नौकरी, अध्ययन तथा शिक्षा-क्षेत्र में प्रभावी दखल के बारे में सूचित किया गया है। बिहार की समृद्ध लोक चित्रकला परम्परा के संदर्भ में सभी उत्सवों, पर्वों, त्योहारों तथा मांगलिक उत्सवों और अनुष्ठानों में चित्रांकन करने का उल्लेख करते हुए ग्रामीण जीवन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका बतायी गयी है और बिहार की प्रमुख चित्र शैलियों में पटना कलम, माली, मंजूषा, भोजपुरी और मधुबनी चित्रकला की भी विस्तार से जानकारी देते हुए इस कला को शिखर तक पहुंचाने वाले कला पारखियों से भी अवगत कराया गया है। ‘रवीन्द्रनाथ का जोड़ासांको’ में 226 साल पहले की ठाकुरबाड़ी नाम से प्रसिद्ध हवेली की सांस्कृतिक गौरवगाथा की विस्तृत जानकारी दी गयी है जो कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पैतृक मकान था जहां पर उन्होंने अंतिम सांस ली। इस हवेली में साहित्यिक चर्चाओं के साथ-साथ संगीत, चित्र, नाट्य मंचन तथा वैदिक मंत्रों की गूंज सुनाई देती थी। इसके अलावा, सामाजिक सुधार आंदोलनों का भी यह गढ़ रहा।

केरल की विशिष्ट नाट्यशैली कथकली में लेखक ने संगीत, साहित्य, नृत्य, वाद्य आदि ललित कलाओं का सम्मिश्रण होने की बात की है और इसकी उत्पत्ति, पात्रों की वेशभूषा, शृंगार तथा इसकी शैलियों के बारे में सविस्तार जानकारी दी है। अंडमान व निकोबार द्वीप स्थित सैल्यूलर जेल को स्वाधीनता सेनानियों का तीर्थस्थल बताते हुए अंग्रेजी सरकार द्वारा इस जेल में स्वाधीनता सेनानियों को दी गयी भयंकर यातनाओं का भी उल्लेख किया गया है। विश्व विरासत सांची स्तूप की भारत के प्रमुख बौद्ध स्थलों में गिनती की गयी है और इसकी विस्तृत जानकारी देते हुए पावागढ़ पुरातत्व स्थल को यूनेस्को द्वारा वर्ष 2004 में विश्व धरोहर घोषित करने का भी उल्लेख है। कुल मिलाकर इन सभी लेखों में लेखकों ने एक प्रकार से ‘गागर में सागर भरने’ की उक्ति को चरितार्थ किया है और पाठकों को पर्याप्त शिक्षाप्रद तथा ज्ञानवर्धक जानकारियां उपलब्ध कराई हैं।

यहां यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि कुछ आधारभूत सुविधाओं के अभाव के कारण यह अंक विलंब से आ रहा है जिसके लिए हमें खेद है। लेकिन इसके बावजूद हमने पत्रिका के स्तर से कोई समझौता नहीं किया है और भविष्य में हमारा पूरा प्रयास होगा कि पत्रिका के अंक नियमित तौर पर और अधिक निखरे रूप में आपके समक्ष आएंगे। अंत में, पत्रिका का यह अंक कैसा बन पड़ा, इसका निर्णय तो प्रबुद्ध पाठक ही करेंगे। हमें उनकी प्रतिक्रिया का इंतजार रहेगा।


(वेद प्रकाश गौड़)
निदेशक (रा.भा.)

जम्मू-कश्मीर में प्रथम धर्मचक्र स्तूप

डॉ. प्रकाश कुमार



उत्खनित प्राचीन बौद्ध पुरास्थल अम्बोरा
जिला-जम्मू; जम्मू व कश्मीर

जम्मू अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति एवं प्राचीन सांस्कृतिक सभ्यता के कारण इतिहासकारों, पुरातत्वविदों एवं पर्यटकों को सदैव आकर्षित करता रहा है। पुरातात्विक अन्वेषण के आधार पर दो दशक पूर्व तक सभी इतिहासकारों एवं पुरातत्वविदों में सर्वमान्य अवधारणा थी कि आठ तिल्लियों वाले धर्मचक्र स्तूप का निर्माण उत्तर भारत में पंजाब प्रांत तक ही सीमित रहा है। परंतु भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के श्रीनगर मंडल द्वारा किए गए नवीनतम पुरातात्विक उत्खनन के दौरान जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू जिले के प्राचीन ऐतिहासिक स्थल अंबारा से यह अवधारणा बदल जाती है। उत्खनन के दौरान यहाँ पहली बार उल्लेखनीय सुगढ़ ईंटों की संरचना प्राप्त हुई है, जिसे 'धर्मचक्र स्तूप' के नाम से जाना जाता है। यह असाधारण खोज जम्मू संभाग के बौद्धकालीन इतिहास एवं संस्कृति पर नए अनुसंधान के प्रवेश द्वार खोलती है।

जम्मू की पुरातात्विक पृष्ठभूमि

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा जम्मू संभाग में अब तक कराए गए पुरातात्विक अन्वेषण एवं उत्खनन के दौरान पाषाणकाल से लेकर मध्ययुगीन काल तक के प्राचीन स्थल एवं पुरावशेष प्रकाश में आए हैं। कठुआ जिले में रावी नदी के समीपवर्ती स्थलों से पाषाणकालीन उपकरण अन्वेषण के दौरान संज्ञान में आए। समय-समय पर कराए गए उत्खनन से भी अनेक प्राचीन स्थल प्रकाश में आए हैं, जो ई.पू. दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक के हैं -

1. प्रागैतिहासिक कालीन पुरास्थल मालपुर जम्मू से 22 कि. मी. उत्तर-पश्चिम में स्थित है। उत्खनन के दौरान यहाँ से नवपाषाण कालीन सभ्यता की पाषाण निर्मित कुल्हाड़ियाँ बहुतायत संख्या में प्राप्त हुई हैं।
2. आद्यैतिहासिक कालीन पुरास्थल चेनाव (चंद्रभागा) नदी के दाएं तट पर स्थित मांडा, तहसील-अखनूर, जिला-जम्मू से उत्खनन के दौरान सबसे निचले स्तर से हड़प्पाकालीन सभ्यता के मृद्भांड एवं पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। यह उत्तर भारत के सबसे उत्तरोत्तर हड़प्पाकालीन स्थल का प्रतिनिधित्व करता है।
3. ऐतिहासिक कालीन पुरास्थल जम्मू से 18 कि.मी. पश्चिम में स्थित गुरु-बाबा-का-टिब्बा से पूर्वकुषाण कालीन धूसर मृद्भांड परंपरा के अवशेष मिले हैं।
4. जम्मू से 19 कि.मी. पश्चिम में स्थित एक अन्य प्राचीन स्थल जाफर-चक से परवर्ती गुप्तकालीन मृद्भांड एवं पुरावशेष प्राप्त हुए हैं।
5. जम्मू संभाग में अन्य प्राचीन स्थल बबोर (मनवाल), क्रिमची से भी ईंटों के बने परवर्ती गुप्तकालीन मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनके ऊपर परवर्तीकाल में पत्थरों से निर्मित मंदिर स्थापित किए गए हैं।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अंतर्गत जम्मू संभाग के मध्यकालीन

मंदिर समूह क्रिमची, मनवाल, बसोहली एवं बिलावर के मंदिर उत्तर भारत की नागर शैली एवं कश्मीर मंदिर स्थापत्य के संगम का बेजोड़ नमूना हैं।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के श्रीनगर मंडल द्वारा वर्ष 2007-09 में पुरास्थल टिब्बा-नामे-शाह, तहसील-मद, जिला-जम्मू के उत्खनन कार्य को संपादित कराने में स्वयं लेखक ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया था, जहाँ से जम्मू-कश्मीर राज्य के प्राचीन इतिहास के अंधकारयुग को समाप्त करने के महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रकाश में आए हैं। यहाँ से जम्मू-कश्मीर राज्य में प्रथम बार 'चित्रित धूसर मृद्भांड परंपरा' जिसे महाभारतकालीन मृद्भांड परंपरा के नाम से भी जाना जाता है, प्रकाश में आई है।

धर्मचक्र स्तूप

जम्मू से 28 कि.मी. उत्तर-पश्चिम में तहसील-अखनूर में चेनाव (प्राचीन असिक्सी या चंद्रभागा) नदी के दाएं तट पर अति महत्वपूर्ण प्राचीन बौद्ध स्थल अंबारा (पंबारन) स्थित है। यह पुरास्थल पूरब-पश्चिम दिशा में नदी के समानांतर फैला हुआ है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा कराए गए पुरातात्विक अन्वेषण एवं उत्खनन के आधार पर यह विदित होता है कि यह स्थल दो कुषाणकालीन कलाओं यथा मथुरा शैली एवं गांधार शैली का संगम स्थल था।

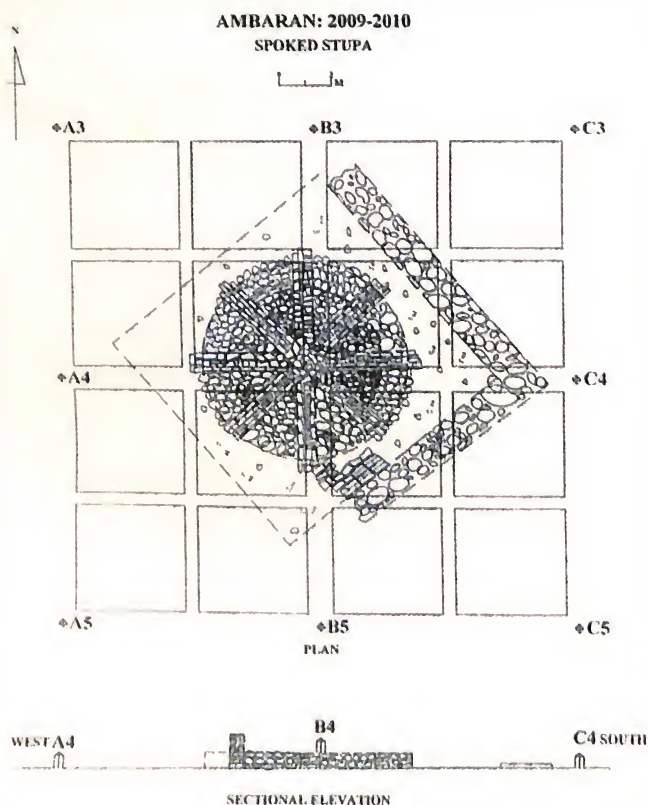


पुरातात्विक उत्खनन के दौरान पुरास्थल अंबारा, जम्मू

वर्ष 1999-2001 के दौरान यहाँ कराए गए उत्खनन से एक वर्गाकार (6मी. x 6मी.) स्तूप संरचना प्रकाश में आई है। इस स्तूप की निर्माण शैली की परंपरागत विशेषताएं तक्षशिला (जो अब पाकिस्तान में है) से प्राप्त स्तूपों की निर्माण शैली एवं संरचना से समानता रखती हैं जबकि वर्ष 2008-10 के दौरान कराए गए पुरातात्विक उत्खनन के दौरान ईंटों से निर्मित अतिविशिष्ट गोलाकार संरचना 'आठ तिल्लियों वाला धर्मचक्र स्तूप' जम्मू-कश्मीर में प्रथम बार संज्ञान में आया है। उत्खनित धर्मचक्र स्तूप, प्राचीन बौद्ध स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना है। इस स्तूप का केवल निचला भाग (चबूतरा) ही अवशेष के रूप में मिला है, जबकि ऊपरी भाग अंड एवं छत्रावली का कोई अवशेष उत्खनन के दौरान नहीं मिला है। उत्खनन के दौरान ऐसा साक्ष्य प्रकाश में आया है कि इस बौद्ध स्थल का विनाश नदी में आई बाढ़ से हुआ है।

ईंटों से निर्मित इस संरचना (धर्मचक्र स्तूप) का व्यास 8 मीटर है, जो 80 सेंटीमीटर चौड़ाई की आठ तिल्लियों में बंटा है जो सभी आठ दिशाओं की ओर है। इन तिल्लियों के बीच नदी के गोल पत्थर और मिट्टी भरी हुई है। इस स्तूप की बाहरी परिधि 1.20 मीटर चौड़ी ईंटों से बनी दीवार है जिसमें मिट्टी के गारे का प्रयोग किया गया है। स्तूप के दक्षिणी भाग में कुषाणकालीन ईंटों से निर्मित प्रदक्षिणापथ का अवशेष भी मौजूद है। इन ईंटों की माप 37x23x7 सेंटीमीटर है। इस स्तूप के परिक्षेत्र के पूरब एवं दक्षिण भाग में नदी के गोल पत्थरों से निर्मित पथ भी मिले हैं। इस महत्वपूर्ण धर्मचक्र स्तूप की पश्चिम

भगवान बुद्ध ने संसार को जीवन के चार आर्यसत्य-दुःख, दुःख का कारण, दुःख निरोध और दुःख निरोध का मार्ग दिए हैं। बौद्ध धर्म में यह विश्वास है कि इन आर्य सत्त्यों के नैतिक मूल्यों के अनुसरण से मानव बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।





उत्खनित मानौति स्तूप
अंबोरा जम्मू, जम्मू व कश्मीर

दिशा में ईंटों से निर्मित छोटे आकार के चार स्तूप भी प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार की निर्माण शैली एवं संरचना के ईंटों से निर्मित स्तूप पूर्ववर्ती समय में पंजाब प्रांत के लुधियाना जिले के संघोल तथा दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश प्रांत के कुर्नुल जिले के नागार्जुनकोंडा नामक पुरास्थल से प्राप्त स्तूपों से समानता रखते हैं।

भगवान बुद्ध ने संसार को जीवन के चार आर्य सत्य-दुःख, दुःख का कारण, दुःख निरोध और दुःख निरोध का मार्ग दिए हैं। बौद्ध धर्म में यह विश्वास है कि इन आर्य सत्यों के नैतिक मूल्यों के अनुसरण से मानव बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इस धर्मचक्र स्तूप की संरचना के आधार पर मेरा मानना है कि यह आठ तिल्लियों वाला धर्मचक्र स्तूप मानव जीवन चक्र का प्रतीक है। इस स्तूप की स्थापना के पीछे महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आठ उपदेशों 'अष्टांगिक मार्ग' की सोच विद्यमान रही होगी। इस धर्मचक्र स्तूप की प्रत्येक तिल्ली अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक मार्ग क्रमशः सम्यक् दृष्टि (अंधविश्वास तथा भ्रम से परे), सम्यक् संकल्प (उच्च तथा बुद्धिपूर्ण), सम्यक् वाक् (नम्र, उन्मुक्त तथा सत्यनिष्ठ), सम्यक् कर्मात् (शांतिपूर्ण, निष्ठापूर्ण तथा पवित्र), सम्यक् आजीव (किसी भी प्राणि को आघात या हानि न पहुँचाना), सम्यक् व्यायाम (आत्म निग्रह), सम्यक् स्मृति (सक्रिय सचेत मन) और सम्यक् समाधि (जीवन की यथार्थता पर गहन ध्यान) का प्रतिनिधित्व करती है,



आर्य सत्य को समझाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान कर सकता है। इस धर्मचक्र स्तूप की आठ तिल्लियाँ, जो बौद्ध दर्शन में प्रचलित 'अष्टांगिक मार्ग' के प्रत्येक मार्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, वर्तमान में संसार के प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन में आत्मसात करने का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिससे प्रत्येक मानव को सांसारिक दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। उपरोक्त कथन के आधार पर यह सर्वमान्य धारणा बन सकती है कि कुषाणकाल में उत्खनित पुरास्थल अंबोरा, जिला-जम्मू (जम्मू व कश्मीर) एक प्रमुख पवित्र बौद्ध आध्यात्मिक स्थल था।

सहायक पुरातत्वविद्
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण
श्रीनगर मंडल कार्यालय
141 ए/डी, ग्रीन बेल्ट पार्क
गांधी नगर, जम्मू-180004

हिमाचल प्रदेश का नरमेध महायज्ञ भूंडा

डॉ. मनोरमा शर्मा



हिमाचल प्रदेश के विभिन्न जनपदों का इतिहास और देव परंपरा जितनी रोचक है, उतने ही रोचक हैं यहाँ के मेले और उत्सव। यहाँ के निवासी न केवल भगवत् प्रेमी हैं, बल्कि देवी-देवताओं को अपने जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं। यहाँ लगने वाले मेलों के पीछे देवी-देवता का ही कोई न कोई प्रसंग जुड़ा रहता है। आज भले ही लोग इन प्रसंगों को भूलकर केवल आनंद और उल्लास में खो जाते हों, लेकिन यह देव-संस्कृति प्रच्छन्न रूप से प्राचीन काल से चलती आ रही है। वैदिक काल की अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ बीज रूप में हिमाचल के लोक मानस में आज भी सुरक्षित हैं। वैदिक साहित्य में सर्वप्रधान कर्म यज्ञ बताया गया है। अनेक यज्ञों की परंपरा में अश्वमेध यज्ञ की तरह नरमेध यज्ञ भी वैदिक युग की वास्तविकता और यज्ञों की एक प्रचलित तथा मान्य विधा थी। नरमेध यज्ञ की घटनाओं का वर्णन पौराणिक युग में भी मिलता है। उसी परंपरा का जीता, जागता स्वरूप हिमाचल प्रदेश का 'भूंडा महायज्ञ' है। 'भूंडा' उत्सव को नरमेध यज्ञ का अवशेष माना जाता है। इतिहास के इस

लंबे समय अंतराल में नरमेध पद्धति का शतशः अनुसरण करने की तो इन उत्सवों में संभावना नहीं होती, परंतु इन महायज्ञों में जिस तरह की परंपराओं का निर्वाह किया जाता है उनसे इसके नरमेध यज्ञ का अवशेष होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। 'भूंडा' यज्ञ में कुछ विशेष संस्कार विधियाँ अपनाई जाती हैं और इसमें अनेक ऐसी रीतियों का समावेश होता है, जिससे 'भूंडा' को नरमेध यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। 'भूंडा' के आरंभिक चरणों में निश्चय ही ऐसी परंपरा रही होगी जिसमें समय के साथ-साथ परिवर्तन आया होगा, लेकिन इन परिवर्तनों के आने पर भी भूंडा उत्सव का संबंध नरमेध यज्ञ से नहीं टूटता।

पहाड़ों में मानव बलि की प्रथा के अनेक उल्लेख और संदर्भ पाए जाते हैं। ये मंदिरों और अस्थानों से संबंधित रहे हैं, परंतु ऐसी बलि सामाजिक स्वीकृति के होते हुए भी गुप्त रूप से हुआ करती थी। ये कहीं भी पुरुष, नारी, बच्चों व बूढ़ों के सामने खुले आम नहीं दी



नरमेध महायज्ञ भूंडा का दृश्य

जाती थी। भूंडा नरबलि के संदर्भ में यहाँ बलि प्रतीक रूप में दी जाती है, जिसमें भेड़, बकरा, मुर्गा आदि प्रमुख हैं। आज पशु बलि भी प्रायः समाप्त हो गई है, परंतु भूंडा यज्ञ में प्रतीक रूप में सबके सामने 'जिदाई' अथवा 'बेड़ा' को मृत घोषित करने के उपरांत जीवित किया जाता है।

भूंडा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भूंडा से संबंधित कर्मकांड पुरातन नरमेध यज्ञ के समान हैं। इस यज्ञ के प्रचलन के संबंध में एक अनुश्रुति यह है कि एक बार जमदग्नि ऋषि किसी कारणवश अपनी पत्नी रेणुका से रुष्ट हो गए थे। उन्होंने अपने पुत्र परशुराम को माता के वध की आज्ञा दी। पुत्र ने पिता का आदेश मानकर माता का

सिर काट डाला, किंतु मातृ हत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए उन्होंने इस यज्ञ का आयोजन किया और अपने अनुयायियों को भूमि देकर आदेश दिया कि वे उपज का दसवाँ भाग 'भूंडा' यज्ञ पर खर्च करें। आज भी यह प्रथा प्रचलित है और स्थानीय निवासी भूंडा यज्ञ के लिए अपना अंशदान करते हैं। इस प्रथा में मंदिर का भंडार खोल दिया जाता है और अतिथियों को सारी सामग्री इसी भंडार से दी जाती है।

भूंडा यज्ञ का आयोजन

भूंडा यज्ञ का आयोजन देवताओं को संतुष्ट करने के लिए किया जाता है। गाँव तथा जनमानस की सुख-समृद्धि की कामना हेतु यज्ञ आयोजित करना हिमाचल प्रदेश में आज भी परंपरा रही है। भूंडा यज्ञ पूर्ववर्ती समय में सोलह स्थानों पर आयोजित किया जाता था और हर बारह वर्ष के अंतराल पर परशुराम से संबंधित स्थानों पर हुआ करता था। इन स्थानों में निरमंड, नीरत, काव, ममेल, वला, नौड़णा, बछूँच, कुलगौव, दलगौव, पुजारली, खडाण और निंबर मुख्य हैं। इनमें से नौड़णा, बछूँच, कुलगौव, दलगौव और पुजारली शिमला जिला की पब्लर घाटी में हैं और अन्य सभी स्थान सतलुज उपत्यका में हैं। व्यास घाटी के बला नामक स्थान पर भी भूंडा का आयोजन किया जाता है।

भूंडा मेले की निश्चित तिथि से लगभग एक वर्ष पहले से ही इसके आयोजन की तैयारी आरंभ हो जाती है। भूंडा में वृहत् हवन का आयोजन किया जाता है। इस हवन के लिए एक विशेष कुंड होता है,



जो पाँच फुट गहरा और चार फुट चौड़ा होता है। इस प्रकार के कुंडों की व्यवस्था परशुराम से संबंधित सभी स्थानों पर की जाती है। इस कुंड का प्रयोग केवल भूंडा के अवसर पर ही होता है। जिस दिन यह हवन कुंड खोला जाता है, उस दिन कुंड की उत्तर दिशा में देवी की एक विशाल मूर्ति की स्थापना की जाती है। कुंड के भीतर एक पात्र रखा जाता है, जिसे 'नाभि कुंड' कहते हैं। कुंड के खुल जाने से लेकर भूंडा यज्ञ की समाप्ति तक इस कुंड में विद्वान वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्रीय विधि से प्रतिदिन प्रातः काल से लेकर सायंकाल तक हवन करते हैं और यह हवन क्रिया वर्ष भर चलती रहती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हवन कुंड के खुलने की शुभ घड़ी भूंडा यज्ञ से कितनी पहले निश्चित होती है।

यज्ञ के लिए विशिष्ट व्यक्ति का चुनाव

नरमेध यज्ञ के लिए हवन प्रारंभ होते ही बेड़ा जाति के एक पुरुष का चुनाव किया जाता है। बेड़ा हिमाचल प्रदेश के कुल्लू, सुकेत, बुशैहर तथा उत्तराखंड के गढ़वाल की एक परिगणित जाति है। इस जाति का कार्य लगभग ब्राह्मण-पुरोहितों जैसा है। भूंडा की सक्रिय तैयारी हवन के साथ ही आरंभ हो जाती है। बेड़ा के चुने जाने के उपरांत उसका तथा उसके समूचे परिवार का पालन-पोषण मंदिर की ओर से ही किया जाता है। इसी बीच इलाके के प्रायः सभी परिवार किसी शुभ दिन मूँज घास काटकर उस मनोनीत बेड़ा को दे देते हैं। इसी मूँज घास से वह रस्सी बनाई जाती है जिस पर बैठाकर बेड़ा को ऊँची पहाड़ी की चोटी से नदी के दूसरे किनारे की ओर सरकाया जाता है। यह रस्सी लगभग छः इंच मोटी होती है। इस रस्सी को बेड़ा स्वयं बनाता है। रस्सी बटाई के दिनों में बेड़ा हर रोज सुबह-सवेरे मूँज घास

और बटी हुई रस्सी की पूजा करता है और दिन भर निराहार बटाई कर केवल रात को भोजन करता है। रस्सी आठ-नौ सौ गज लम्बी होती है। रस्सी को चूहे न काट दें, इस उद्देश्य से बेड़ा को एक बिल्ली दी जाती है ताकि वह चूहों से रस्सी की रक्षा कर सके।

इस प्रकार के आयोजन का धार्मिक पक्ष भी जनमानस में प्रचलित है। मान्यता है कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव के गण विघ्न न डालें, इस हेतु भृगु ऋषि ने हवन कुंड की दक्षिण अग्नि में आहुति डाली और उनकी भक्ति से ऋभु देवता प्रकट हुए। शिवजी के गण इस वीर ऋभु के आगे स्वयं को असहाय मानने लगे। अंततः शिवजी ने एक बड़ी शिला पर क्रोधपूर्वक प्रहार किया और वहाँ वीरभद्र की उत्पत्ति हुई। वीरभद्र तथा ऋभु देवता का भयंकर युद्ध हुआ। ऋभु देवता मारा गया और वीरभद्र ने ऋभु देवता का सिर पहाड़ की चोटी पर तथा पैर नदी के दूसरे किनारे पर पहुँचा दिए। इसी घटना की पुनरावृत्ति के प्रतीक स्वरूप बेड़ा को रस्सी द्वारा पहाड़ की चोटी से नदी के दूसरे किनारे तक सरकाया जाता है। बेड़ा को वीरभद्र का अवतार माना जाता है और उसके द्वारा किया गया यह कृत्य विश्व की सुख, शांति तथा समृद्धि का उपादान माना जाता है।

नरमेध भूँडा यज्ञ की प्रक्रिया

बेड़ा द्वारा निर्मित रस्सी जिसे 'बलौत्तर' कहा जाता है, आवश्यक लंबाई की बन जाने पर परशुराम मंदिर में रखी जाती है और इसे देवत्व का आरोपण मानकर पूज्य माना जाता है। इसके उपरान्त आसपास के देवी-देवताओं, ब्राह्मणों, राज-परिवारों और अन्य जनता को संदेशवाहक भेजकर भूँडा यज्ञ के लिए आमंत्रित किया जाता है। एक ब्राह्मण युवक पाँच स्थानों, जहाँ भूँडा होता है, पर जाकर ब्राह्मणों को निमंत्रण देकर कहता है कि मैं आपको भूँडा यज्ञ के लिए बुलाने आया हूँ, आप देवता के प्रतीक छड़ी, नगाड़ा और चंवर दे दें, इनके बिना यज्ञ नहीं हो सकता। इस छड़ी गीत का एक पद इस प्रकार है-

सभी स्थाना लै छोड़ा बदाणू, भाटो छाड़ा बदाणू
कावे बामणुए बटेटडु पुछणो लाओ
नॉडले बटेटणु कीरु कारवे आओ
कारुए आओ लोमां बदाणू
छौड़ी देआ चौंअर भाटो देआं नगारो
तोमे बिना बामणुओ म्हारो जग्ग न हौआ

इस प्रकार विभिन्न स्थानों से छड़ी, चंवर और नगाड़े लाकर भूँडा यज्ञ का प्रारंभ होता है। यज्ञ आरंभ होने से पहले दिन सभी निमंत्रित देवता परशुराम मंदिर के सम्मुख एक बड़े मंडप या अखाड़े में वरीयता के अनुसार विराजते हैं। भूँडा यज्ञ के विधिवत् आरंभ होने से पहले दिन

'भूँडा' उत्सव को नरमेध यज्ञ का अवशेष माना जाता है। इतिहास के इस लंबे समय अंतराल में नरमेध पद्धति का शतशः अनुसरण करने की तो इन उत्सवों में संभावना नहीं होती, परंतु इन महायज्ञों में जिस तरह की परंपराओं का निर्वाह किया जाता है उनसे इसके नरमेध यज्ञ का अवशेष होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।

निमंत्रित देवताओं का स्वागत किया जाता है। यह स्वागत दशनामी अखाड़े में होता है। भूँडा में मुख्यतः शास्त्रीय देवता ही भाग ले सकते हैं। इन देवताओं के कलश होते हैं, जिन्हें देवलु अपने कंधों पर उठाकर लाते हैं। यज्ञ का आयोजन तथा संपूर्ण प्रबंध परशुराम मंदिर द्वारा किया जाता है। इसमें चार व्यक्ति यथा 'कारदार' (देवता का गूर), 'जगनाहट' (यज्ञ करने वाले ब्राह्मण), 'पुजारी' (मंदिर में पूजा करने वाला व्यक्ति) और 'मे हते' (सुनार) महत्वपूर्ण होते हैं।

प्राचीन नरमेध में वैदिक ऋषियों का जो स्थान था, भूँडा में वही स्थान देवताओं के 'गूर' का है। उनमें मंत्र और तंत्र विद्याओं का उत्कृष्ट समावेश पाया जाता है। इन 'गूरों' में देवताओं की शक्ति भी रहती है। भूँडा जैसे विशेष अवसरों पर इन गूरों में से किसी एक में देवता की आत्मा प्रवेश करती है और वह विचित्र ढंग से उछलना-कूदना आरंभ कर देता है। इसे 'देऊखेल' अथवा 'हुलकी' कहा जाता है। इन गूरों के मंत्रों की परंपरा पूर्णतया वैदिक ऋचाओं के समान रही है। ये मंत्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक स्मृति रूप में ही आज भी अनपढ़ समाज के गूरों में प्रचलित हैं।

भूँडा यज्ञ आरंभ करने से पूर्व यज्ञशाला में 'धनखड़ी' नामक हस्तलिखित पोथी से मंत्रों का पाठ किया जाता है। हजारों की संख्या में लोग एकत्रित होकर इन मंत्रों का पाठ सुनने के लिए आते हैं। इस यज्ञ के प्रारंभिक भाग में 'प्रबंधन गीत' का गायन किया जाता है, जिसमें देवताओं का स्तुतिगान किया जाता है। मुख्य रूप से ब्रह्मा, दंडकेश, हुताशन, केशव, महेश्वर, सदाशिव, महादेव, ओंकार तथा पंचदेवता की वंदना की जाती है। एक प्रसिद्ध प्रबंध गीत इस प्रकार है-

खुडिया खाणना का कागड़ी आई, सीता रामा खजानचिए बनचड़ी लाई
भाइया चुगावे भालकुआ मेरा नारेदा, बैदू देंदे ऐएसे न म्हारे बुरे बुरे झेड़ा
औरे गादे खजानचियां कोटिया रोथाड़ा, काम लगाऊ ला भूँडे रो म्हारे खोलणे भंडारे
काठे बेसुओं लगाणो तुमा माओरो गोदामा, पौड़े लगाऊं खाणना म्हारे भूँडो रा काभा
नोती ऐकी आदमिए रामपुरा ले जाओ, राजाए ताओ बाई पद्म सिंधा शिघरे शदाओ



अर्थात् यहाँ भूँडा यज्ञ का आयोजन किया गया है और मंदिर का भंडार गृह खोला जा रहा है। सभी अतिथियों और देवताओं के स्वागत हेतु भोजन तथा अन्य व्यवस्थाएं संपन्न की जा रही हैं। खजांची सभी प्रबंध कर रहा है। आप सभी अपनी सामर्थ्य अनुसार अनाज आदि भंडार के लिए दान दें। दूत को रामपुर बुशैहर भेजकर राजा पद्म सिंह को शीघ्र भूँडा यज्ञ के लिए निर्मात्रित किया जाए।

इन प्रबंधन गीतों में बौंसुरी, रणसिंघा और करनाल पर धुन बजाई जाती है तथा ताल और लय के संयोजन के लिए ढोल, नगाड़े और मंजीरों का उपयोग कर ताल बजाई जाती है। इन वाद्यों के प्रयोग से गायन की मधुरता और रंजकता बढ़ जाती है तथा लोग इन धार्मिक गीतों की रसात्मकता में डूब जाते हैं। स्तुति गीत तथा प्रबंधन गीतों के साथ ही बेड़ा, जिसे अब 'जियाई' कहा जाता है, के लिए विशेष अनुष्ठान भी संपन्न किए जाते हैं। भूँडा यज्ञ कम से कम पाँच दिन चलता है।

दूसरे दिन स्थानीय देवताओं के गूर 'शिखफेर' संपन्न करते हैं। शिखफेर में ये गूर गाँव के चारों ओर दो-तीन मील की परिधि में चक्कर लगाते हैं। उनके आगे भस्म और सिंदूर तथा कालिख से पुता एक व्यक्ति भागता रहता है। संभवतः यह व्यक्ति आधि-व्याधि, देव-कोप, दोष आदि का प्रतीक होता है, जिसे उस क्षेत्र से दूर भगाकर गाँव की सुख-समृद्धि की कामना की जाती हो। शिखफेर पूरा कर लेने पर सभी गूर परशुराम के मंदिर में आ जाते हैं।

शिखफेर के उपरांत तीसरे दिन भूँडा यज्ञ का अन्य महत्वपूर्ण विधान सम्पन्न किया जाता है। इसे 'जड़-पूजन' (जल पूजन) कहा जाता

है। इस विधान के लिए 'लाटे दी बा' अर्थात् लाटे की बावड़ा नाम के 13 फुट लंबे, 8 फुट चौड़े और पाँच-छः फुट गहरे सात सीढ़ियों वाले जलाशय पर, जिसके जल को गंगाजल की संज्ञा दी जाती है, अंबिका का कलश तथा अन्य नौ लघु कलश एक-एक कर रखे जाते हैं। प्रत्येक कलश के आगे एक जलता हुआ दीपक रखा जाता है। ग्राम वधू उस जल में प्रविष्ट होकर उन दस कलशों की पूजा करती है।

भूँडा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और चर्चित समारोह एवं अनुष्ठान जड़पूजन के अगले दिन होता है। इस दिन से बेड़ा को 'जियाई' संबोधित किया जाता है और नरमेध रूपी देवयज्ञ पूर्ण होता है। इस दिन हवन के उपरांत बलि पुरुष को मंत्रोच्चार के साथ देवयज्ञ के स्थान पर लाकर उसकी अंश रूप मूर्तिका और जल को ग्रहण कर यज्ञ का समापन किया जाता है। सभी स्थानीय देवता और देवतु परशुराम मंदिर से निकलकर दशनामी अखाड़े में आ जाते हैं। जियाई को बलि के स्थान पर ले जाया जाता है। बलि के स्थान पर जाने से पूर्व जियाई नहा-धोकर तैयार होता है और उसे बाजे-गाजे के साथ सम्मानपूर्वक हवन कुंड के पास लाया जाता है। उस समय उसे एक प्रकार से देवता ही माना जाता है और उसके अनुरूप ही उसकी पूजा होती है। हवन का अधिष्ठाता उसके ऊपर जल, पुष्प, अक्षत आदि फेंकता है। पूजा के उपरांत उसके मुँह में पंचरत्न की पुड़िया डाल दी जाती है। साधारणतया पंचरत्न केवल मरणासन्न व्यक्ति के मुँह में ही डाला जाता है। मंदिर का कारदार उसे अपनी पीठ पर उठाकर यज्ञशाला से बाहर लाता है। उस समय विभिन्न वाद्यों का वादन होता है। वाद्यों की धुन अत्यंत करुणामयी होती है।

यज्ञशाला से बाहर आकर गणमान्य अतिथि, पुरोहित और मंदिर के कर्मचारी एक जुलूस की शकल में चल पड़ते हैं। जुलूस का नेता जियाई ही होता है। उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र और गले में लाल डोरी होती है। उसके सिर पर एक अन्य व्यक्ति नीली छतरी उठाकर चलता है। समारोह रूप में यह जुलूस उस स्थान पर आता है जहाँ जियाई को रस्सी पर चढ़ना होता है। उसकी उपस्थिति में रस्सी दो मजबूत चट्टानों में एक चोटी के ऊपर बाँध दी जाती है। दूसरा सिरा नदी के दूसरे छोर पर कुछ सौ गज नीचे खम्भों के सहारे बाँधा जाता है। यहाँ पर रस्सी, चट्टानों, खम्भों और नदी की पूजा की जाती है ताकि जियाई सकुशल इस क्रिया को सम्पन्न कर सके। इसके उपरांत जियाई यज्ञशाला में लौट आता है, यहाँ विधिपूर्वक उसका देवार्पण किया जाता है। देवार्पण होने के उपरांत जियाई को पुनः जुलूस की शकल में चोटी पर पहुँचाया जाता है। जियाई की पत्नी श्वेत वस्त्र धारण कर और सिर के बाल खोलकर विधवा के वेश में वहाँ उपस्थित रहती है।

तैयार की गई रस्सी पर लकड़ी की एक 'घोड़ी' (जीन या काठी) अच्छी तरह बाँध दी जाती है, जिस पर जियाई को बैठाया जाता है। जियाई की दोनों टाँगों में रेत से भरे थैले बाँधे जाते हैं, ताकि उसका संतुलन बना रहे। पुरोहित के संकेत पर घोड़ी की डोर सहसा काट दी जाती है और जियाई रस्सी पर बड़ी तीव्र गति से नीचे की ओर सरकता जाता है। निचले छोर के खम्भों से बीस-पच्चीस गज तक रस्सी में कपड़ों के थान लिपटे रहते हैं ताकि जियाई की गति धीमी पड़ जाए और वह खम्भे से न टकराए। रस्सी पर जियाई की दौड़ के समय ढोल, नगाड़ा, करनाल, रणसिंघा, शहनाई और तुरही आदि वाद्य बजाए जाते हैं। एकत्रित लोग देवता की जयजयकार करते हैं। जैसे ही जियाई निचले सिरे पर पहुँचता है उसे मंत्रोच्चार के साथ बड़े आदर से भूमि पर उतारा जाता है। देवता की जयजयकार तथा ढोल-नगाड़ों की ध्वनि से वातावरण गुंजायमान हो जाता है। जियाई की पत्नी को सुहागन के वस्त्र पहनाए जाते हैं और जनसमूह जियाई को कंधे पर उठाकर पूरे प्रांगण में उत्साहपूर्ण नृत्य करते हुए जुलूस के रूप में मंदिर के आगे स्थान विशेष पर एकत्र होते हैं। जियाई दूब घास को प्रसाद रूप में तथा अन्य कई उपहार जनसमूह में बाँटता है। भूँडा में इस्तेमाल की गई रस्सी को काटकर उसके टुकड़े मंदिरों और अन्य पूर्व निर्धारित व्यक्तियों और देवताओं को भेंट किए जाते हैं।

ऐसी मान्यता है कि भूँडा के दौरान दुर्भाग्यवश यदि जियाई की मृत्यु हो जाए तो पूरे विश्व के लिए इसे अमंगल का सूचक माना जाता है। निरमंड में 1868 में आयोजित भूँडा यज्ञ के दौरान दुर्घटनावश जियाई की मृत्यु हो जाने पर इस महायज्ञ पर पाबंदी लगा दी गई थी, परंतु उसके उपरांत रस्सी पर उतरने की दूरी कम कर दी गई और सुरक्षा के पूरे प्रबंध के साथ भूँडा का आयोजन किया जाने लगा। बाद में 1885, 1918 और 1933 में भी भूँडा महायज्ञ निर्विघ्न संपन्न हुए। निरमंड में पिछली बार भूँडा महायज्ञ 1962 में प्रायः तीस वर्षों बाद संपन्न किया गया था। वर्ष 2002 में चालीस वर्ष बाद रामपुर के मंझोली टिप्पर पंचायत के बड़ेटी गौव में इसका आयोजन किया गया था। यहाँ पर सुरक्षा हेतु रस्सी के पूरे रास्ते पर नायलॉन का जाल बिछा दिया गया था, ताकि यदि कोई दुर्घटना हो जाए तो जियाई इस जाल पर ही गिरे और उसे बचा लिया जाए।

भूँडा महायज्ञ जहाँ एक ओर वैदिक संस्कृति की अनुकृति है, वहीं इसमें स्थानीय जन-जीवन का दृश्य भी उद्घाटित होता है। जियाई के सकुशल वापिस आने पर कई प्रकार के सामूहिक नृत्य किए जाते हैं। इन नृत्यों में प्रमुख रूप से अनुष्ठानिक नृत्य, तलवार नृत्य, दंड नृत्य तथा नाटी नृत्य किए जाते हैं। नर्तकगण हवा में तलवारें और दंड लहराते हुए नृत्य करते हैं और दर्शकगण भी उत्साह से भरकर इन सामूहिक नृत्यों में सम्मिलित होकर अपनी श्रद्धा, भक्ति, आस्था और परंपरा को अभिव्यक्त करते हैं।

भूँडा महायज्ञ के समापन पर शुभ मुहूर्त में हवन कुंड को वृहदाकार पाट शिला द्वारा बंद कर दिया जाता है। देवताओं और अतिथियों की विदाई के बीच परशुराम मंदिर को बंद कर दिया जाता है। साथ ही जल कुंभ, मोहरें, मूर्तियाँ, पोथी तथा अन्य वस्तुएँ जिन्हें यज्ञ के दौरान बाहर निकाला गया था, पुनः मंदिर में रख दी जाती हैं। मंदिर का द्वार मजबूत सांकलों तथा प्राचीन तालों से अगले भूँडा महायज्ञ तक के लिए बंद कर दिया जाता है। इस तरह इस वैदिक युगीन नरमेध महायज्ञ भूँडा का समापन होता है। इस यज्ञ में आज भी वैदिक संस्कृति अपने प्राकृतिक स्वरूप में झलकती है। इस यज्ञ का सबसे सशक्त पहलू यह है कि इसमें विभिन्न जातियाँ बिना किसी भेदभाव के भाग लेती हैं। भूँडा महायज्ञ सामाजिक एकता का एक सफल उदाहरण है।

3, खेड़ा निवास
संजौली, शिमला-6
मो. : 09816136653

कला और सौंदर्य बोध का प्रतीक हरिमंदिर साहिब

डॉ. रमेश सोबती



हरि मंदिर सोई आखीए जित्थे हरिजाता
अति रमणीक बनी जिह शोभा
देखित जिसह नरहि मन लोभा

हरिमंदिर साहिब, जिसे स्वर्ण मंदिर भी कहा जाता है, शांति का प्रतीक जीवंत चिह्न अकाल पुरख परमात्मा का अपना धाम है। यह धाम सिक्खों को आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक परंपरा का संदेश देता है और मानव जाति के दिलों में प्रेम भावना का संचार करता है। ऐतिहासिक अभिलेख अमृतसर गजेटीयर 1914 के अनुसार चौथे गुरु श्री रामदास जी ने व्यास नदी से लगभग पचास कि.मी. उत्तर-पश्चिम गांव चक्क गुरु को सात सौ अकबरी मोहरें देकर खरीदा था। इस गाँव के पास ही एकदाब (छपरी) थी और उसी छपरी के पास एक बेरी का वृक्ष भी था। इस बेरी के वृक्ष को अब दुख भजनी बेरी के नाम से जाना जाता है। इतिहासकार बताते हैं कि सन् 1502 ई. में गुरु नानक देव जी भाई मरदाना जी के साथ यहाँ आए थे, यहाँ के शांत तथा प्राकृतिक वातावरण से वह बहुत प्रभावित हुए। गुरु नानक देव जी ने इस स्थान को पवित्र घोषित किया। यह सुनकर पास के गाँव का जमींदार भाई तारा अपने घर से देसी घी का प्रसाद बनाकर लाया, जिसको खाकर भाई मरदाना जी ने इसे अमृत भोजन कहा, तब गुरु जी ने भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि इस स्थान से भविष्य में ऐसा ही अमृत बाँटा जाएगा। इसके बाद सन् 1532 ई. में गुरु नानक देव जी फिर भाई लहणे जी के साथ आकर उसी बेरी के नीचे छपरी के किनारे बैठे रहे, आज यहाँ अमृत सरोवर

शोभायमान है। इस स्थान की महत्ता के बारे में फिर उन्होंने शुभ वाक्य कहे थे। इसी स्थान पर उनका मिलाप बाबा बुड्ढा जी के साथ भी हुआ था। अमृत सरोवर की रचना के बारे में कुछ लोक कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि गुरु अमरदास जी को इस पवित्र छपरी के किनारे कुछ ऐसी जड़ी-बूटियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे उन्होंने गुरु अंगद देव जी को चर्म रोग से मुक्ति दिलाई थी। दूसरी चर्चित कथा के अनुसार राजा दूनी चंद की पुत्री रजनी ने भी इसी छपरी के पवित्र जल से अपने कुष्ठ रोगी पति को स्नान करवाया था, जिससे उसके कुष्ठ रोग का निवारण हो गया था, तब गुरु अमरदास जी इस कथ्य की सच्चाई जानने लिए इस स्थान पर आए और यहाँ के मनोहारी दृश्य तथा वातावरण से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इस स्थान पर बहुधार्मिक तीर्थ स्थान बनाने का निर्णय ले लिया।

प्रागैतिहासिक, वैदिक काल में हुई उत्पत्ति: 6 नवंबर सन् 1573 ई. को गुरु अमरदास जी की आज्ञा से गुरु रामदास जी ने सरोवर निर्माण करने के लिए उस छपरी की खुदाई आरंभ की। सन् 1574 ई. में गुरु अमरदास जी ज्योतिजोत में समा गए और यह कार्य बंद हो गया। सन् 1576 ई. में इसकी खुदाई का कार्य दोबारा आरंभ किया गया। पंचम गुरु श्री अर्जुन देव जी की प्रार्थना से मुसलमान दरवेश मियाँ मीर जी ने जनवरी सन् 1588 ई. में इसकी नींव रखी। इस अमृत सरोवर को सन् 1589 ई. में बड़ा करवाने का फैसला लिया गया, जिसका निर्माण कार्य सन् 1601 ई. में पूरा हुआ। इसकी पवित्रता का अनुमान निम्नांकित पंक्ति से सहज ही हो जाता है-

सत् सरोवर नावै
सो जन परम गति पावें

आदि ग्रंथ का संपादन पाँचवें पातशाह ने सन् 1604 ई. में पूरा करवाया। 30 अगस्त 1604 ई. को आदि ग्रंथ साहिब को बाबा बुड्ढा जी ने अपने शीश पर रखा और गुरु अर्जुन देव जी उनके पीछे-पीछे चौर करते रहे। इस प्रकार सारे शहर में से गुजरते हुए यह नगर कीर्तन दरबार साहिब पहुँचा, जहाँ आदि ग्रंथ साहिब को सुशोभित किया गया, इससे इस नए नगर अमृतसर की किस्मत जाग उठी। सारा शहर धार्मिक सुगंध से पवित्र हो गया। बाबा बुड्ढा जी ने आदि ग्रंथ में से प्रथम हुक्मनामा लिया, जिसके प्रारंभिक शब्द इस प्रकार हैं—

सूहीम-5 : संता के कारज आप खलोइया, हरि कम्म करावण आया राम

हरिमंदिर साहिब का उत्पत्ति काल कुछ इतिहासकार वैदिक काल से मानते हैं जब सीता जी को वनवास दिया गया तो लक्ष्मण उन्हें इसी स्थान पर छोड़ गए थे। लव और कुश का जन्म भी यहीं हुआ, इन्हीं के नामों के नाम पर लाहौर व कसूर शहर बसे हैं। दुखभंजनी बेरी के पास ही लव-कुश ने अपने पिता राम, चाचाओं लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा हनुमान, सुग्रीव, अंगद आदि से युद्ध किया और उन्हें परास्त कर मूर्छित कर दिया। बाद में, उनको सचेत करने के लिए स्वर्ग से अमृत का घड़ा मंगवाकर सबको पुनर्जीवित किया गया। जो अमृत बच गया, उसको वहीं उस दुखभंजनी बेरी के पास दबा दिया गया था (हवाला अमोल की पुस्तक-अमृतसर, पृष्ठ 25)। इस प्रकार इस स्थान के प्रति कई ऐतिहासिक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। अमृतसर से सात-आठ किलोमीटर की दूरी पर रामतीर्थ स्थान है, यहाँ वाल्मीकि जी का पुरातन आश्रम आज भी है, जो इस सच्चाई का साक्षी है।

68 तीर्थों का फल: कोई भी वस्तु आकार के बिना नहीं होती। वस्तु में वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श होता है, तो साथ ही उसमें आकार भी होता है। आकार को जैन परंपरा में संस्थान कहा गया है। जिस आकार में संस्थान होता है, उसी आकार की ऊर्जा का प्रवाह होता है। पिरामिड की ऊर्जा के पीछे यही रहस्य है। पिरामिड दो शब्दों के सहयोग से बना है, पिरा+मिड, पिरा का अर्थ अग्नि, मिड का अर्थ मध्य में। अग्नि जीवन ऊर्जा है, वह मध्य में ही रहकर कार्य करती है।



पिरामिड में अवस्थित ऊर्जा से मानव का शरीर, मन और भावना को संतुलित बनाया जा सकता है। पिरामिड बनाने के लिए नक्षत्र, तारे, सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, हवा तथा आस-पास के पर्यावरण का अध्ययन किया जाता है। गुरु अमरदास जी ने इन सभी तथ्यों पर बड़ी गंभीरता से विचार किया था और ऐतिहासिक प्रमाणों को सम्मुख रखकर दुखभंजनी बेरी के समीप की छपरी की खुदाई की योजना बनाई थी। वे जानते थे कि पिरामिड के आकार की चुंबकीय शक्ति, शरीर और भाव को प्रभावित करते हैं। वे यह भी जानते थे कि मंदिरों एवं विशिष्ट अनुष्ठानों के समय केवल मंत्रोच्चार ही नहीं किया जाता, अपितु पिरामिड की आकृति की स्थापना भी की जाती है। उसके लिए पिरामिड के आकार

की रचना विशिष्ट अनुष्ठानपूर्वक की जाती है, इसलिए उन्होंने मुस्लिम दरवेश मियों मीर जी से इस मंदिर की नींव रखवाई थी। गुरु अर्जुनदेव जी ने सरोवर के बीच के चबूतरे को 67 हाथ लंबा 67 हाथ चौड़ा बनवाया था। यह चबूतरा हिंदू परंपरा के अनुसार ऊँचा बनाने की अपेक्षा गुरु जी ने इसका निर्माण निम्न तल पर किया, जिससे संगत सिर झुकाकर अंदर जा सके। इसमें निर्मित चार दिशाओं में चार दरवाजे हैं, जो भारतीय संस्कृति के चार वर्णों के प्रतीक हैं। वे यह भी जानते थे कि 68 तीर्थों के दर्शन और उनकी पूजा-अर्चना करना हमारी भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। गुरु जी ने हरिमंदिर स्थल को 67 हाथ वर्गाकार रखकर संसार में 67 तीर्थों की हस्ती से जोड़ दिया और 68वां तीर्थ हरिमंदिर साहिब को उस स्थान पर स्थापित कर श्रद्धालुओं के दिल में से अन्य तीर्थों के भ्रमण और



भटकन की लालसा को समाप्त कर दिया। इस प्रकार सभी 68 तीर्थों के फल हरिमंदिर साहिब के दर्शन करने से मिल जाते हैं। वे जानते थे कि इस अनुष्ठान से ऊर्जा की उत्पादन क्षमता और बढ़ जाएगी, वे पिरामिड से निकलने वाली ऊर्जा को अलौकिक समझते थे। उस ऊर्जा से तथा पिरामिड के 67 गुणा 67 हाथ संस्थान से चुंबकीय

में ज्योतिजोत में समाने लगे तो उन्होंने ग्रंथ साहिब को शब्द गुरु के रूप में गुरु की गद्दी प्रदान की और गुरु मान्यो ग्रंथ शब्द कहे थे।

वास्तुशास्त्र का बेजोड़ नमूना: गुरु अर्जुन देव जी वास्तुशास्त्र के भी ज्ञाता थे, वे जानते थे कि इस संसार में जो वस्तु अतिउत्तम है, वह सोलह कलाओं से संपूर्ण है। भगवान श्री राम चौदह तथा भगवान श्री



वातावरण बनेगा, जो मनुष्य के मन को एकाग्र करेगा और उसकी उपासना को सार्थक करेगा। यही कारण है कि 10 गुरुओं में से 8 गुरुओं ने यहाँ पूजा-अर्चना की थी।

ईश्वर के धाम: हरिमंदिर साहिब का निर्माण जिस सरोवर के मध्य में हुआ, उसका क्षेत्रफल 510 वर्गफुट तथा गहराई 17 फुट है। इस सरोवर के बाहर साथ-साथ 60 फुट चौड़ी परिक्रमा बनी हुई है, जिसमें कई प्रकार के रेखाचित्र भी हैं। दर्शनी ड्योढ़ी से हरिमंदिर साहिब तक पहुँचने के लिए 84 कदम चलना पड़ता है। यह इस बात को साबित करता है कि मनुष्य 84 लाख योनियों को भोगकर फिर मनुष्य जीवन में आता है। श्रद्धालु जब दर्शनी ड्योढ़ी से दरबार साहिब तक पहुँचने के लिए बने पुल पर 84 कदम आगे बढ़ता है तो उसका चौरासी जन्मों का चक्कर समाप्त हो जाता है। हरिमंदिर साहिब की पवित्र भावना उसकी आत्मा से सांसारिक मैल उतार देती है। ज्ञात हो कि दर्शनी ड्योढ़ी से हरिमंदिर साहिब तक का रास्ता 11 कदम चौड़ा और 84 कदम लंबा है। गुरु अर्जुन देव जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से यह जान लिया था कि इस संप्रदाय में केवल दस गुरु ही होंगे और 11 वें गुरु के रूप में गुरु ग्रंथ साहिब को मान्यता प्राप्त होगी। 7 अक्टूबर, 1708 को जब गुरु गोविंद सिंह जी नांदेड़ साहिब

कृष्ण सोलह कलाओं से संपूर्ण थे। इस तथ्य को जानते हुए गुरु जी ने इसे सर्वकला संपूर्ण बनाया। वे जानते थे कि सोलह कला संपूर्ण वस्तु उत्तम से उत्तम होती है, लेकिन यह सरोवर 17 फुट गहरा होने के कारण सोलह कला से भी ऊपर है, यानी सर्वकला संपन्न। इसकी पवित्रता का प्रमाण यह भी है कि इसका जल खराब नहीं होता, इसमें मकड़ी का जाला नहीं बनता, कोई जहरीला कीड़ा-मकोड़ा प्रवेश नहीं करता, यहाँ तक कि इस सरोवर में मेंढक भी प्रवेश नहीं कर सकता। गुरु अर्जुन देव जी ने हरिमंदिर साहिब का निर्माण इस ढंग से करवाया कि रामदास सराय की ओर के प्रवेश द्वार से परिसर में प्रवेश करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कोई कपोत जल में हिचकोले खाता हुआ आगे की तरफ बढ़ रहा है। वास्तुशास्त्र को ध्यान में रखते हुए इसका निर्माण किया गया है। ग्रीष्म ऋतु में पश्चिम की आनंदमयी वायु खिड़कियों में से प्रवेश करके एक अजीब सुकून देती है और शीतकाल में अधिक सर्दी भी नहीं लगती। वर्षा ऋतु में तो वातावरण और भी मनोहारी हो जाता है। कहा भी गया है—

खष्ट (छह) रुतन (मौसम) महिं सम सुखदाई,

लगहि पवन पश्चिम पुरवाई।

जहिं गरीखम (गर्मियाँ) महिं सवेद (पसीना) न

जोवै हिम (ठंडी) ऋतु महिं पालो (ठंड) नहिं होवै।

बरखा महिं बढ़ होत बहार,

बिन करदम (कीचड़-मिट्टी) ते सुंदर बार।

चहुं दिश दृष्टि नीर पर परै,

मेघा धार बिन मल ते भरै।

हरिमंदिर साहिब, जिसे स्वर्ण मंदिर भी कहा जाता है, शांति का प्रतीक जीवंत चिह्न अकाल पुरख परमात्मा का अपना धाम है। यह धाम सिक्खों को आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक परंपरा का संदेश देता है और मानव जाति के दिलों में प्रेम भावना का संचार करता है।

जगत मलार न ओसो कोई,
मंदर दिखति आनंद न होई। (पृष्ठ-1866)

कई पक्षों को ध्यान में रखकर किया निर्माण: गुरु अर्जुन देव जी ने हरिमंदिर के निर्माण के समय कई पक्षों पर विशेष ध्यान दिया, जैसे परिक्रमा में बैठे श्रद्धालुओं के अतिरिक्त सरोवर के किनारे बैठी संगत को भी कीर्तन सुनाई दे, इसके लिए ध्वनि पद्धति का ध्यान रखते हुए भवन के निर्माण को उसके अनुरूप बनाया गया। ध्वनि तकनीक की दृष्टि से भवन की ऊँचाई, खिड़कियों, दरवाजों की लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई का पूरा-पूरा हिसाब रखा गया। एक दीवार की दूसरी दीवार से दूरी इतनी रखी गई कि कोई वस्तु कीर्तन की आवाज में बाधा ना डाले और इमारती ढाँचे के कारण आवाज न तो फटे और न ही गूँजे, अपितु मधुर होकर सुरीली हो जाए। इस ईश्वरीय मंदिर में कीर्तन की सुरीली आवाज दरबार साहिब परिसर में कहीं भी बैठे श्रद्धालु सुन सकते हैं।

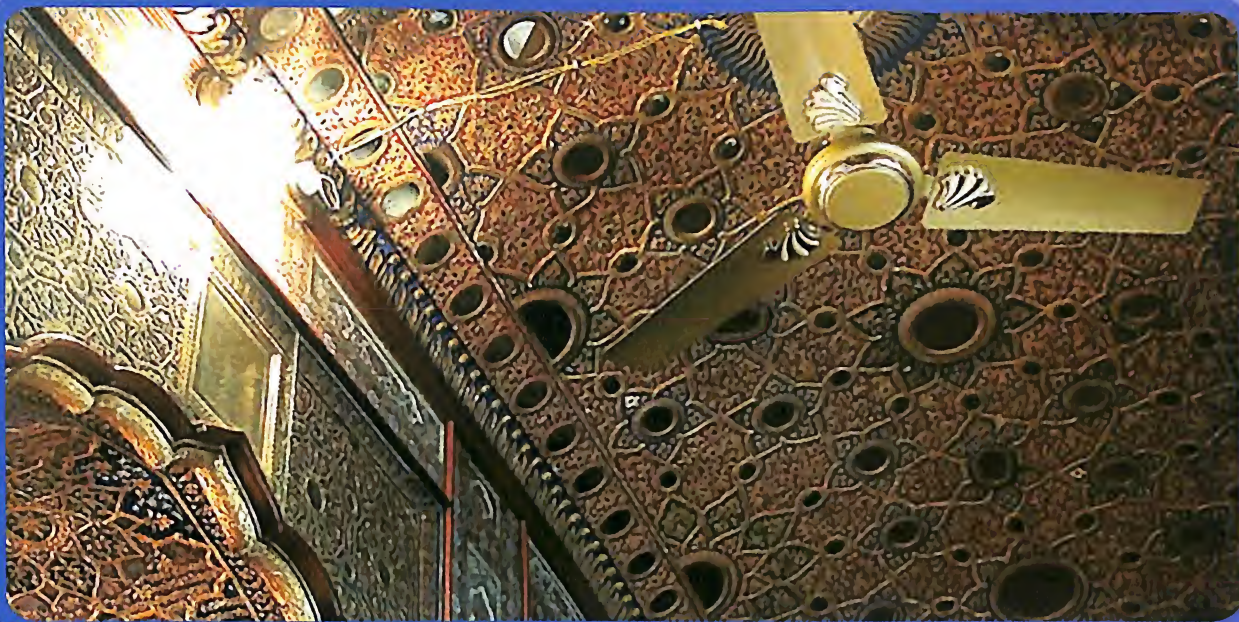
आंतरिक सज्जा: एक बार टैगोर ने भी भाई सुंदर सिंह कीर्तनीय का कीर्तन सुना व भाव-विभोर हो गए। श्री हरिमंदिर साहिब जी के आंतरिक भाग में नीचे की मंजिल पर आदि ग्रंथ को एक अलंकृत छत्र के नीचे प्रतिष्ठापित किया गया है और दूसरी मंजिल पर एक सुसज्जित मंडप है, जिसे शीश मंडल कहते हैं। शीश महल के

गुरु अर्जुन देव जी ने हरिमंदिर के निर्माण के समय कई पक्षों पर विशेष ध्यान दिया, जैसे परिक्रमा में बैठे श्रद्धालुओं के अतिरिक्त सरोवर के किनारे बैठी संगत को भी कीर्तन सुनाई दे, इसके लिए ध्वनि पद्धति का ध्यान रखते हुए भवन के निर्माण को उसके अनुरूप बनाया गया।

आंतरिक भाग व छत को उस समय के कारीगरों द्वारा बड़ी लगन, निपुणता और कलात्मक तरीके से शीशे के छोटे-बड़े टुकड़ों से सजाया गया है। हरिमंदिर साहिब पर स्वर्ण पत्र चढ़ाने का कार्य सन् 1807 ई. में भाई संत सिंह की निगरानी में किया गया। इस कार्य को पूरा करने का भार मोहम्मद यार खान मिस्त्री को दिया गया, जिन्होंने निपुणता से इसे पूरा किया। सोने के वर्कों की सात पतें, तांबे की प्लेटों पर चढ़ाकर इस मंदिर को स्वर्ण मंदिर बना दिया गया। यह कार्य 27 वर्षों में विक्रमी संवत् 1887 में पूरा हुआ और इस कार्य पर 162 सेर शुद्ध सोना प्रयोग में लाया गया। यह सारा सोना महाराजा रणजीत सिंह ने दिया था। फिर इंगलैंड की संगत ने सात क्विंटल सोना लगाकर नई पतें चढ़ाई। यह कार्य 3 फरवरी 1995 से 1999 तक हुआ। सिखों के केंद्रीय धार्मिक और तीर्थ स्थान होने के कारण राजाओं, सच्चे सरदारों एवं भक्तों ने भी इस भवन की सजावट के लिए बढ़-चढ़कर दान दिया। हरिमंदिर साहिब में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कला मोहरा-काशरी (भित्ति-चित्रण) अथवा दीवार के गीले पलस्तर पर रंगों द्वारा चित्र बनाने की कला है। कुछ जड़तकारी की कला है, जिसे संगमरमर पर किया गया है। हरिमंदिर भवन में तीन शताब्दियों की कलामयी दस्तकारियों को उनकी परिपक्व अवस्था में साकार देखा जा सकता है।

हरिमंदिर साहिब में सुरक्षित मोहराकशी के नमूनों में अधिकतर बेल-बूटों को ही देखा जा सकता है, जो बहुत परिश्रम से बनाए गए थे। कहीं-कहीं पर जानवरों को भी उपयुक्त विधि द्वारा बेल-बूटों के संयोजन में सम्मिलित किया गया है। यद्यपि किसी समय सरोवर की बाहर वाली परिक्रमा की दीवारों पर सभी स्थानों





पर सिख इतिहास से संबंधित मानवीय भित्ति चित्र बने हुए थे, जो अब नष्ट हो चुके हैं, परंतु हरिमंदिर साहिब की इमारत के अंदर मानव आकृतियों वाले किन्हीं भित्ति-चित्रों का उल्लेख नहीं मिलता। केवल दूसरी मंजिल से ऊपर की तरफ जाने वाली सीढ़ियों की दीवार के ऊपरी भाग में एकमात्र भित्ति चित्र बना हुआ है, जिसमें आकृतियाँ दिखाई गई हैं। इस आयताकार भित्ति-चित्र में गुरु गोविंद सिंह जी को घोड़े पर सवार दिखाया गया है और उनके संग छः सरदार हैं। चित्र का संयोजन अति सुंदर और अनुकूल है। एक परंपरा के अनुसार महाराजा रणजीत सिंह ने अपने संरक्षण में यह भित्ति-चित्र चित्रित करवाया था।

गच दस्तकारी का कार्य भी हरिमंदिर साहिब में बहुत बढ़िया हुआ है। गच एक प्रकार का पत्थर होता है जिसे अनुकूल आंच (आग) पर भूनकर-पीसकर कपड़े से छानते हैं। मिश्रण को इतना ही पानी डालकर तैयार किया जाता था। गच को चूने के पलस्तर की तरह दीवार पर लगाया जाता था और फिर लोहे की कलम से छीलकर

फूल-पत्तियां बनाई जाती थीं। तत्पश्चात् पीला रोगन करके स्वर्ण वर्क लगाए जाते थे। यह कला गुंबद के अंदर अधिक है। पहले कारीगर गच या चूने के ऊपर समतल अक्षर लिखते थे परंतु भाई ज्ञान सिंह नक्काश ने हरि की पौड़ी के ऊपरी दरों पर जपुजी साहिब लिखा है जो उभरे हुए अक्षरों में है। गच में उपयुक्त विधि द्वारा शीशे की कड़ियाँ जोड़ने को टुकड़ी कहते हैं। यह हुनर हरि की पौड़ी के ऊपर की छत से अग्रिम दालान में बहुत बढ़िया हुआ है।

टुकड़ी कार्य से मिलता-जुलता कार्य जिसे हीरानुमा कहते हैं, के उदाहरण भी हरिमंदिर साहिब में देखने को मिलते हैं। इसमें साफ शीशे पर फूल-पत्ते खींचकर ऊपर से कलई कराई जाती थी और इसी तरफ मसाला लगाया जाता था। ऊपर की तरफ से साफ होते हुए भी दर्शक को यह महसूस होता है कि चित्रकारी बाहर की तरफ से की गई है। शीशा हीरे की भांति चमकता है, इसलिए इसे हीरेनुमा कहा जाता है।

एन.आर. एवेन्यू, सुखचैन रोड,
फगवाड़ा (पंजाब)-144 401
मोबाइल : 09815385535

उत्तराखंड की जनजातियाँ

देवेन्द्र उपाध्याय



उत्तराखंड की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान है जिसे जातीय विविधता ने और समृद्ध बनाया है। जातीय विविधता में ही शामिल हैं वहाँ सदियों से बसे आदिवासी। आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन के बावजूद उत्तराखंड के पाँच आदिवासी समूहों की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान रही है। उत्तराखंड के आदिवासी समूहों और गैर-आदिवासी समूहों के बीच जो परस्पर अटूट संबंध है वह विश्वास पर आधारित रहा है। एक ऐसा विश्वास जिसमें छल-कपट और धोखा जैसे आधुनिक समाज के टोटके शामिल नहीं हैं।

राजी (बनरौत) खानाबदोश जनजाति घने जंगलों में रहती थी लेकिन एक स्थान पर टिकती नहीं थी। अब धीरे-धीरे अधिकांश आबादी बसाहट पर विश्वास करने लगी है। राजी लकड़ी की कारीगरी में सिद्धहस्त होते हैं और वे खेती में काम आने वाले स्थानीय औजार बनाकर उसके बदले में अपनी जरूरत की चीजें प्राप्त करते हैं।

भोटिया (शौका) तिब्बत से व्यापार कर वहाँ से ऊन और ऊनी सामान लाकर उत्तराखंड में बेचते थे। वे पशुपालक के रूप में भी व्यापार करते थे। भोटिया मूलतः व्यापारी रहे हैं। जौनसारी में गैर आदिवासियों की तरह इनमें चारों वर्ण हैं। गैर आदिवासी समूहों के साथ उनके सामाजिक-आर्थिक संबंध निरंतर प्रगाढ़ हो रहे हैं। अब जौनसारी समूह के शिक्षित एवं आर्थिक रूप से संपन्न युवक-युवतियाँ गैर आदिवासियों के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित कर रहे हैं, दूसरी ओर आज भी जौनसारी पांडवों को अपना पूर्वज मानते हुए बहुपति प्रथा को अपनाए हुए हैं।

थारू और बुक्सा जनजातियाँ उत्तराखंड के तराई क्षेत्र में बसी हुई हैं। ये जनजातियाँ सदियों पहले आकर यहाँ बस गईं। वे तराई के घने जंगलों व दलदल वाले क्षेत्रों में मक्खियों, मच्छरों, कीड़े-मकोड़ों और जंगली जानवरों की बहुतायत के बीच पीढ़ियों से कष्टप्रद जीवन बिताते रहे हैं। यहाँ की अस्वस्थकर जलवायु के बीच रहकर प्रतिकूल परिस्थितियों में संघर्ष कर वे अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। यह क्षेत्र उनकी कर्मस्थली रहा है। आजादी के बाद बाहर से आने वालों ने थारू और बुक्साओं को उनकी जमीन से बेदखल कर उन्हें विस्थापित कर दिया।

थारू स्वयं को चित्तौड़ के महाराणा प्रताप का वंशज मानते हैं। उनके



भोटिया महिलाएँ ऊन कातते हुए

बारे में कहा जाता है कि राजपूतों और मुगलों के बीच लंबी लड़ाई में जब अनेक राजपूत राजा और उनके सिपाही मारे गए तब उनकी रानियाँ अपने सेवकों के साथ भागकर उत्तराखंड की तराई में आकर बस गईं। बाद में उन्होंने अपने सेवकों के साथ शारीरिक संबंध स्थापित कर लिए, जिनके वंशज थारू राजा कहलाए। एक और किंवदंती है कि तराई के राजा जब बाहरी आक्रमणकारियों से हार गए तो उनकी रानियाँ अपने महल के साइसों व चमड़े का काम करने वालों के साथ जंगलों में भाग गईं। बाद में उनके बीच शारीरिक संबंध स्थापित हो गए। उनसे उत्पन्न संतानें थारू और बुक्सा के नाम से प्रचलित हुई लेकिन इस बात की पुष्टि नहीं होती।

थारूओं में तीन वर्ग हैं—राणा, धींगर और गोसांई। राणा स्वयं को सामाजिक स्तर के अनुसार उच्च मानते हैं। इसके बाद धींगर या अन्य उपजातियाँ हैं। गोसांई इनके पुरोहित हैं। पूरी तराई में इनके मात्र 10-12 परिवार ही बताए जाते हैं। बुक्सा जनजाति स्वयं को पंवार राजपूतों का वंशज मानती है। उनका कहना है कि धार नगरी के राजा जगतदेव ने झगड़ा होने के कारण अपने भाई उदयजीत को राज्य से निकाल दिया। वे अपने कुछ सेवकों को साथ लेकर नेपाल-भारत सीमा पर बनबसा में आकर बस गए। बाद में वे तराई के विभिन्न भागों में बसते चले गए।

बुक्सा स्वयं को थारूओं से ऊँचा मानते हैं और उनमें आपस में विवाह संबंध नहीं होते। कुमाऊँ के थवाल पंडित उनके सारे कर्मकांड करते हैं। उनके कुलगुरु भी अलग हैं जो नाथ संप्रदाय के हैं। वे अपने नाम के आगे कोई उपजाति सूचक शब्द भी नहीं लगाते हैं। धार्मिक दृष्टि से उत्तराखंड के पाँचों आदिवासी समूह हिंदू हैं लेकिन उनकी अपनी

अलग धार्मिक प्रथाएं एवं परंपराएं तथा रीति-रिवाज हैं। सामान्यतया उत्तराखंड के पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी एवं गैर-आदिवासी समूहों के बीच कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता है।

राजी जनजाति सबसे पिछड़ी, उपेक्षित और हर तरह की सुविधाओं से वंचित है। सदियों से तराई-भाबर में उन्मुक्त जीवन जीने वाली थारू-बुक्सा जनजातियाँ अपनी ही माटी में घोर गरीबी, उपेक्षा और शोषण की चक्की में पिसने के लिए मजबूर हैं। समृद्ध तराई-भाबर में वे अपनी ही धरती पर पराए होकर अभावों में जीने के लिए अभिशप्त हैं।



बुक्सा जनजाति की बारात

उत्तराखंड की जनजातियों में राजी केवल कुमाऊं भाषा-भाषी क्षेत्र में रहते हैं। जौनसारी (खासी) गढ़वाली भाषा-भाषी क्षेत्र में रहते हैं। भोटिया और बुक्सा जनजातियाँ कुमाऊं एवं गढ़वाल में निवास करती हैं जबकि थारू केवल कुमाऊं के तराई-भाबर क्षेत्र में बसे हुए हैं। थारू और बुक्सा अपनी-अपनी बोलियों के अलावा स्थानीय कुमाऊं या गढ़वाली भाषा तथा पंजाबी भाषा का भी भरपूर इस्तेमाल करते हैं। थारू एवं बुक्सा पुराने निवासी हैं लेकिन आजादी के बाद में बड़ी संख्या में पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों, पंजाब के शरणार्थियों तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश आदि के लोगों के भारी संख्या में यहाँ आ बसने के कारण उनका सामाजिक, सांस्कृतिक प्रभाव भी इन पर पड़ा है। इन आ-बसैयों के कारण उनकी आर्थिक स्थिति भी प्रभावित हुई और सैकड़ों की संख्या में वे अपनी जमीन से बेदखल होकर वहाँ मजदूरी करने के लिए विवश कर दिए गए।

उत्तराखंड की जनजातियों को उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम क्षेत्र की जनजातियों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। अनेक प्रमुख



थारू जनजाति का पुरुष

विद्वानों का मानना है कि इन सभी जनजातियों पर मंगोलियन नस्ल का प्रभाव है। लेकिन यह देखा गया है कि सामाजिक आर्थिक स्तर तथा सांस्कृतिक तौर-तरीकों की दृष्टि से इनमें परस्पर कोई समानता नहीं दिखाई देती है।

राजी : राजी जनजाति पिथौरागढ़ जिले के धारचूला तहसील के चार, डीडोहाट तहसील के चार तथा चंपावत जिले के एक गाँव में रहती है। यह उत्तराखंड की सबसे प्राचीन और आदिम जनजाति है जो वनराजी और वनरावत के नाम से भी जानी जाती है। वनराजी का मतलब है वन में रहने वाले या वनवासी। कुछ राजी परिवार नेपाल के पश्चिमी महाकाली अंचल में भी रहते हैं, जिनके उत्तराखंड के राजियों के साथ वैवाहिक संबंध भी होते हैं। राजी जनजाति के बारे में डा. देवसिंह पोखरिया के निर्देशन में किए गए एक शोध के अनुसार, धारचूला के किमखोला, गजागाँव, भक्तिरूला, चिफलतरा, डीडोहाट के जमतड़ी, मदनपुरी, कुटा, चौराती और औलतडी तथा चंपावत के खिरद्वारी में राजी जनजाति निवास करती है। खिरद्वारी के राजी परिवारों को अन्य राजी गाँवों की अपेक्षा अधिक सुविधाएं तो मिल रही हैं लेकिन मूलभूत सुविधाओं से वे वंचित हैं। राजी परिवारों के भरण-पोषण का कोई स्थायी साधन न होने के कारण अपने बच्चों से मेहनत मजदूरी कराने की उनकी मजबूरी है। स्वास्थ्य के प्रति उदासीनता के कारण इनके शरीर में जन्म से ही प्रतिरोधक क्षमता कम होती है जिससे इनमें मृत्यु दर अधिक है। इसकी वजह से नौ गाँवों में इनकी आबादी अभी तक एक हजार को भी पार नहीं कर सकी है।

कहा जाता है कि विभिन्न भील-किरात जातियाँ पशुचारण करते हुए लघु हिमालय की ढलानों से हिमालय में पहुँचीं, जहाँ से वे पूर्वोत्तर में असम, नेपाल, कुमाऊं, लाहौल से लेकर लद्दाख तक चली गईं।



जौनसारी पांडव नृत्य में गेंडा वध

उसके बाद कुमाऊँ में जो विचरती रह गई उनमें से राजी भी हैं। उन पर अभी तक बाहरी प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि वे आज भी सही अर्थों में वनवासी हैं, जिन्हें कभी वन में रहने वाला मानुष भी कहा जाता था।

सदियाँ बीत गई, अनेक जनजातियाँ घने जंगलों से बाहर निकलकर आधुनिक सभ्य समाज के साथ घुल-मिल गई लेकिन राजी अभी तक अपनी अलग दुनिया से बाहर नहीं निकल पाए हैं। इनकी आबादी में वृद्धि का अनुपात नाममात्र का है क्योंकि जंगलों में ही सिमटी रहने के कारण इनको आवश्यक पोषण और चिकित्सा सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं।

राजी जनजाति की मान्यता है कि वे अस्कोट के पाल वंश के राजा के बड़े भाई की संतानें हैं, जिन्हें वनवास दिया गया था। कई दशक पहले तक राजी भी पूर्वोत्तर की जनजातियों की तरह झूम खेती करते थे और कहीं एक जगह टिक कर नहीं रहते थे। झूम खेती पर पाबंदी लगने के बाद उन्हें एक ही क्षेत्र में सिमटने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसके बाद वे जंगलों में झोपड़ियाँ बनाकर रहने लगे या फिर कंदराओं (गुफाओं) में पहुँच गए। राजी जनजाति के गगनसिंह दो बार उत्तराखंड विधानसभा के लिए जनजाति सुरक्षित क्षेत्र से चुने गए।

कुमाऊँ-गढ़वाल के सीमांत में रहने वाली सभी जनजातियों का संबंध किरात से माना जाता है, जिन्हें मौन-खोर के नाम से जाना जाता है और जिसका उपयोग भील-किरात जाति के लिए किया जाता है। किरात के बाद खस जाति का आगमन हुआ। तब इसे खस मंडल कहा जाने लगा। कुछ विद्वानों का मानना है कि कालांतर में किरात खसों में विलीन हो गए।

भोटिया : भोटिया जनजाति अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, बागेश्वर, उत्तरकाशी तथा चमोली जिलों में निवास करती है। सीमांत क्षेत्र का निवासी होने के कारण राहुल सांकृत्यायन ने इस क्षेत्र को भोटांत प्रदेश का नाम दिया है। भोटिया जनजाति की मंगोल आकृति, रीति-रिवाज और तिब्बती भाषा के प्रभाव को देखकर कई मानव विज्ञानियों ने इन्हें तिब्बत से आकर बसे मंगोल जाति का तिब्बती बताया है। लेकिन अनेक विद्वान उनसे असहमत हैं। उनका मानना है कि अफ्रीकी, निग्रोई, आस्मिक और मंगोलायट प्रजातियाँ विश्वभर में फैलकर विभिन्न भागों में छा गईं। इनमें से मंगोलायट प्रजाति की एक शाखा भारत-तिब्बत सीमा पर महाहिमालय की ऊँची-ऊँची उपत्यकाओं पर आकर बस गई।

भारतीय साहित्य में इस प्रजाति को किरात कहा गया है। एक समय में कोसी के पूर्व में बसने वाली जातियाँ भी किरात कही जाती थीं जिन्हें आज भोटिया कहा जाता है। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दि के प्रारंभ में शक पूर्वी मध्य एशिया की ओर से आए। उनसे पीछे वैदिक आर्य उत्तरी भारत के मैदानों से हिमालय में पहुँचे। इन दोनों जातियों के आने से बहुत पहले एक जाति हिमालय में रहती थी, जिसे हम किन्नर किरात जाति कह सकते हैं।

कुमाऊँ-गढ़वाल के सीमांत में रहने वाली सभी जनजातियों का संबंध किरात से माना जाता है, जिन्हें मौन-खोर के नाम से जाना जाता है और जिसका उपयोग भील-किरात जाति के लिए किया जाता है। किरात के बाद खस जाति का आगमन हुआ। तब इसे खस मंडल कहा जाने लगा। कुछ विद्वानों का मानना है कि कालांतर में किरात खसों में विलीन हो गए। तिब्बत से जुड़े कुमाऊँ-गढ़वाल मंडल में रहने वाली जनजाति शौका को भोटिया भी कहा जाता है। भोट शब्द से ही भोटिया की उत्पत्ति हुई है। तिब्बती भाषा में पठार के लिए भोट शब्द का इस्तेमाल होता है। पठार से जुड़ा होने के कारण ही यह भोट कहलाया। शौका (भोटिया) यहाँ के प्राचीनतम मूल निवासी हैं, वे आज भी अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं। कुमाऊँ की प्रसिद्ध लोकगाथाओं राजुला मालूशाही और हरूहीत में भोट का उल्लेख मिलता है।

भोटिया जनजाति हिमालय की तलहटी में जाड गंगा, विष्णु गंगा, धौली, गोरी, कुटियांगती और दारमा नदियों की घाटियों में बसी हुई है। इसी आधार पर इनका वर्गीकरण भी हुआ है। जाड गंगा घाटी के भोटिया जाड, विष्णु गंगा घाटी में रहने वाले मारछा, धौली गंगा व कुटियांगती में रहने वाले जोहारी तथा दारमा में रहने वालों को दारमी

कहा जाता है। यही इनकी अलग पहचान भी है। प्राचीनकाल से ही भौगोलिक दृष्टि से अलग-अलग रहने के कारण इनका पारस्परिक संपर्क नहीं हो सका। हर एक घाटी एक दूसरे से सर्वथा अलग है जिनमें मीलों की दूरी है। इनकी बोली भाषा भी अलग-अलग है जिनमें परस्पर काफी अंतर है।

तिब्बत पर चीन का अधिकार हो जाने के बाद सदियों से तिब्बत के साथ व्यापार करने वाली भोटिया जनजाति को इससे गहरा धक्का लगा। पहले तिब्बत और उत्तराखंड के भोट क्षेत्र के बीच आवागमन में कोई रुकावट नहीं थी। विभिन्न दरों से होकर भोटिया व्यापारियों का तिब्बत आवागमन अबाध रूप से होता रहता था। भारत-तिब्बत के बीच भोटिया व्यापार संबंधों के सेतु थे। वे तिब्बत में चीनी, चाय, तंबाकू, नील, सूती धागा, रंग और अन्य माल लेकर जाते थे और बदले में वहां से ऊन, चंवर गाय की पूछ, सुहागा, रंगीन पत्थर, खालें, कस्तूरी, तिब्बती भेड़ें, हींग, जम्बू, गंदरैण आदि चीजें लाकर बेचते थे।

तिब्बत यात्रा में 1959-60 के दौरान से रुकावटें आने लगीं और भारत पर 1962 में चीनी आक्रमण के साथ सदियों से चले आ रहे व्यापार संबंध पूरी तरह समाप्त हो गए। इसके बाद भोटिया परिवारों



जौनसारी घर

के जीवन में बदलाव आने लगा। कर्मठ, संघर्षशील और सामाजिक चेतना से भरपूर भोटिया जनजाति राष्ट्र की मुख्यधारा से जुड़ गई।

जौनसारी : जौनसारी (खस) समुदाय के लोगों की उत्तराखंड की जनजातियों में अपनी अलग पहचान है। इस जनजाति के लोग स्वयं को पांडवों से जोड़ते हैं। जौनसारी देहरादून के मैदानी क्षेत्र जौनसार बाबर, रवाई (टिहरी) और जौनपुर (उत्तरकाशी) में बसे हुए हैं। रवाई के मोरी और पुरोला तथा जौनपुर के नौगाँव व थल्यूड विकास खंड का क्षेत्र हर की दून के नाम से विख्यात है। जौनसार बाबर क्षेत्र में जहाँ पांडवों के वंशज होने का दावा किया जाता है वहीं हर की दून क्षेत्र में आज भी दुर्योधन का राज चलता है।

जौनसारी अपनी परंपराओं, पहनावे और सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से अन्य जनजातियों से एकदम अलग हैं। उनमें हिंदुओं की तरह वर्ण व्यवस्था है लेकिन ब्राह्मणों-राजपूतों के बीच परस्पर रोटी-बेटी का संबंध आम बात है। जौनसारियों में बहुपति प्रथा विद्यमान है। रवाई जौनपुर क्षेत्र में बहुपति प्रथा के अलावा बहुपत्नी प्रथा भी है। जौनसार बाबर में पांडवों से जुड़े अनेक मंदिर मौजूद हैं, जिन्हें पांडवों की चौरी कहा जाता है। नैरवाड से हरकी दून और बखौल क्षेत्र पंचगोई क्षेत्र के रूप में जाना जाता है, जिसमें 21 गाँव हैं। इन गाँवों में कुलदेवता के रूप में समसू (दुर्योधन) की पूजा की जाती है और सारा काम समसू देवता की आज्ञा से चलता है। जखौल में दुर्योधन की मुख्य गद्दी स्थित है और किसी भी विवाद का अंतिम फैसला इसी मंदिर के गाँव की पंचायत करती है। हर विवाद का फैसला राजीनामा (ठाठीमारो) से होता है लेकिन उससे भी विवाद हल नहीं होता तो समसू के मंदिर में जाकर उस व्यक्ति (माली) को पूजा और नचाया जाता है। जिस पर समसू देवता आता है वह विवाद के बारे में जो भी फैसला देता है वह अंतिम और सर्वमान्य होता है।

हरकी दून क्षेत्र के लोग स्वयं को खस राजपूत मानते हैं। जौनसार क्षेत्र के भाबर क्षेत्र में रहने वाले गिने-चुने ब्राह्मण परिवार लव-कुश की पूजा करते हैं। बाजगी समेत कई अनुसूचित जातियों के लोग भी यहाँ



बुक्सा जनजाति के पुरुष



उत्तराखंड के एक गांव का राज राजेश्वरी मंदिर

हैं, जिनमें बाजगी खस, राजपूतों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि बाजगी के बाजा बजाए बिना और पूजा-अर्चना के बिना वे भोजन नहीं करते।

देहरादून से 129 कि.मी. और उत्तरकाशी से 86 कि.मी. दूर बडकोट है। बडकोट से आगे यमुना तट पर तिलाड़ी का ऐतिहासिक मैदान है जहाँ 30 मई 1930 को टिहरी की राजशाही ने निहत्थे लोगों की भीड़ पर बर्बरतापूर्वक गोलियाँ चलाई थीं जिससे अनगिनत लोग शहीद हुए थे। तिलाड़ी के मैदान में खड़ा शहीद स्तंभ आज भी राजशाही की उस बर्बरता की याद दिलाता है।

थारू और बुक्सा : उत्तराखंड के तराई भाबर में बसी थारू और बुक्सा जनजातियाँ अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और परंपराओं के बावजूद अशिक्षा, तंग वातावरण, गरीबी, कुपोषण, बीमारी और उच्च शिशु मृत्यु दर से ग्रस्त हैं। संक्रांति काल से गुजर रही इन जनजातियों के लोग सदियों से इस धरती के मालिक रहे हैं लेकिन आजादी के बाद से ही धीरे-धीरे भूमिहीन और खेत मजदूर होकर अपनी जीविका के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

ऊधमसिंह नगर के सितारगंज और खटीमा तहसील के करीब 145 गाँवों में थारूओं की 70 हजार से अधिक आबादी है। इसके अलावा थारू जनजाति नैनीताल, पौड़ी गढ़वाल और देहरादून जिलों में भी

रहती है। थारूओं का क्षेत्र थरूवाट या थडुवार के नाम से जाना जाता है। खटीमा और सितारगंज में थारूओं की करीब 55 प्रतिशत आबादी है। इसके बावजूद वे दबंग नहीं, भीरू हैं जिसकी वजह से वे अपनी जमीन खोते चले गए। बुक्सा जनजाति ऊधमसिंह नगर, नैनीताल, पौड़ी गढ़वाल एवं देहरादून जिलों में निवास करती है जिसमें 60 प्रतिशत से अधिक आबादी ऊधमसिंह नगर में है।

आजादी के बाद तराई में शरणार्थियों का पुनर्वास होने लगा तो उसके कुछ ही वर्षों बाद इनका विस्थापन शुरू हो गया। आज 70-80 प्रतिशत थारू एवं बुक्सा भूमिहीन हो गए हैं। कानूनी रूप से उनकी जमीन कोई गैर-जनजाति का व्यक्ति नहीं खरीद सकता लेकिन बाहर से आने वालों ने इनकी अशिक्षा और गरीबी का फायदा उठाकर इन्हें व्यसनों में डालकर इनकी जमीन हथिया ली। कानूनी रूप से हजारों एकड़ जमीन के मालिक थारू-बुक्सा भूमिहीन हो चुके हैं। अधिकांश थारू-बुक्सा गरीबी, अशिक्षा, बेकारी और तमाम बुनियादी सुविधाओं के अभाव में जीने के लिए विवश हैं। उनकी सादगी, गरीबी और अशिक्षा का लाभ उन लोगों ने उठाया जो बाहर से आकर तराई-भाबर में बसे।

सी-8/90ए, लारेंस रोड,
दिल्ली-110035

हरियाणा में रचित संत साहित्य : एक दिग्दर्शन

रामशरण युयुत्सु



संतों के विराट व्यक्तित्व की भांति 'संत' शब्द भी बहुत व्यापक है।

पं. परशुराम चतुर्वेदी ने 'संत' शब्द का सूत्र ऋग्वेद से खोजा है। 'संत' शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान, पवित्रात्मा, सज्जन, परोपकारी या सदाचारी व्यक्ति के लिए किया गया मिला है और कभी-कभी साधारण बोलचाल में इसे भक्त, साधु या महात्मा जैसे शब्दों का भी पर्याय समझ लिया जाता है। जहाँ तक इस शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, कुछ लोग इसे शांत शब्द का रूपांतर मानते हैं तो कुछ अन्य लोग इसे 'संति' अथवा 'संत्य' का विकृत रूप मानते हैं। डॉ. राजदेव सिंह के अनुसार, "जहाँ तक संत शब्द के सही अर्थ का प्रश्न है, ऋग्वेद से लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य तक इस पर कोई विवाद नहीं है।"

डॉ. रामकुमार वर्मा के कथनानुसार, "हिंदी साहित्य में भक्ति से संबंध रखने वाली भाव धारा के अंतर्गत संत काव्य का विशेष महत्व है। यद्यपि भक्ति संबंधी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियों को संत कहा जा सकता है, तथापि संत काव्य उन्हीं कवियों की वाणियों का नाम है जिन्होंने निर्गुण संप्रदाय के अंतर्गत काव्य-रचना की है।" अतः रूढ़ि अर्थ में निर्गुणवादियों को ही संतों की संज्ञा दी गई है।

संतों की समस्त साधना शास्त्रमूलक न होकर स्वानुभूतिपरक है। संत साहित्य, जन जीवन का साहित्य है। संत कवि लोक धर्म के संस्थापक एवं प्रतिष्ठापक हैं। हिंदू-मुस्लिम कर्मकांड, बाह्याडंबर, संकुचित आचार-विचार तथा रूढ़िगत दुराग्रहों से ऊपर उठा हुआ संत साहित्य विशुद्ध मानवीय प्रेम की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है, जहाँ भगवान वेदव्यास की यही अमरवाणी सुनाई पड़ती है, "न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।"

हरियाणा की पावन धरा पर अनेक ऋषि-मुनियों, संतों और संसार



स्वामी भीष्मजी घोड़ा

को सद्मार्ग दिखाने वाली विभूतियों ने जन्म लिया है। इन विभूतियों, संतों ने अपने ज्ञान से संसार को सत्य का भान करवाया और सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। वैदिक काल से चली आ रही भक्ति की मंदाकिनी उपनिषदों, स्मृतियों और पुराणों के मार्गों से बहती हुई मध्यकाल तक आते-आते और अधिक उपयोगी, आनंददायिनी और पुण्य सलिला बन गई। मध्यकाल में महामना सूरदास (सं. 1540-1620) के गीतों की रचना यद्यपि वृंदावन और मथुरा के बीच गऊघाट पर हुई थी, किंतु इनकी जन्म-भूमि हरियाणा ही थी।

हरियाणा के गुड़गाँव जिले में सीही नामक स्थान पर इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म-स्थान के बारे में

विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किंतु सूरदास के जन्म-स्थान से संबद्ध सभी स्थानों पर विचार करने के बाद उनका जन्म-स्थान सीही ही प्रामाणिक बैठता है।

डॉ. सूरजभान ने अपने वृहद-ग्रंथ 'हरियाणा का संत साहित्य' में कठिन परिश्रम और बड़े मनोयोग से हरियाणा के संत-मत का अध्ययन किया है। दो अन्य महत्वपूर्ण कृतियों में भी संत गरीबदास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इधर एक विद्वान भक्तराम द्वारा रचित 'संत गरीबदास का जीवन चरित्र' उपलब्ध है और दूसरी कृति 'ग्रंथ साहिब' है जो सद्गुरु श्री जैतराम जी की वाणी है तथा इसे बाबा दुल्हन दास ने सन् 1955 में प्रकाशित करवाया है। गरीबदास तो मूलतः गृहस्थ संत थे, परंतु गृहस्थ होकर भी उनका जीवन किसी तपस्वी से कम नहीं था। इसलिए तो उनकी वाणी न केवल उनके समय में ही जनता की प्रेरणा स्रोत रही बल्कि आज भी और आगे आने वाले समय में भी हमारा पथ प्रशस्त करती रहेगी।

गरीब पंथ में महाराज जैतराम दास जी का अन्यतम स्थान है। ये गरीबदास जी के पुत्र और शिष्य थे। 'मारग-सार' के अनुसार,

जैतराम जी का जन्म सन् 1737 ई. में हुआ। 'मारग-सार' संतों की चुनी हुई वाणियों का संकलन है, जो 1973 ई. में रामरतन सत्संग भवन, बहादुरगढ़ से प्रकाशित हुआ है। संत जैतराम जी की वाणी गुण और मात्रा दोनों ही दृष्टियों से बड़ी समृद्ध है। समस्त निर्गुण संत साहित्य में इनकी वाणी का अन्यतम तथा हरियाणा संत साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनकी समस्त वाणी 'गुरु ग्रंथ साहिब' अर्थात् 'सद्गुरु श्री जैतराम जी महाराज की वाणी' के शीर्षक से 1955 में प्रकाशित हुई है। श्री दुल्हन दास जी जिन्हें दल्लेदास और भीष्म जी भी कहा जाता है, ने अपने परिश्रम से कमाए धन से वाणी का प्रकाशन रोहतास प्रेस, रोहतक से सर्वप्रथम कराया। ग्रंथ साहिब श्री जैतराम जी की वाणी में कुल 510 पृष्ठ हैं। इस वृहदाकार ग्रंथ में लगभग बारह हजार साखियाँ समाहित हैं। वाणी के अंत में चौदह पृष्ठों में महाराज दुलनदास (दुल्हन दास) या भीष्म जी की वाणी संकलित है।

गरीब संत गुरु मेरा महरमी, अदली आद अलेख।

सर्वलोक गलतान है, जाकै रूप नै रेख।

धन सिव जोगी पुरुष तुम्हारा, रिद्धि सिद्धि मुक्त भगत भंडारा।

अमर निहचल सो शिव कल मांही अडिग समाध खंड हो नांही।

देवी हर हर करै उचारा, आक धतूरा करै अहारा।

रोहतक जिला (अब झज्जर जिला) के गाँव छुड़ानी में अवतरित होने वाले संत गरीब दास जी की दिव्यवाणी आज भी हरियाणा के जन जीवन की अमूल्य संपत्ति है। उनके द्वारा हिंदी संत साहित्य गौरवान्वित हुआ है। डॉ. जगदीश चन्द्र सिंघल के अनुसार, उनकी वाणी की कम से कम 35 हस्तलिखित पोथियाँ उन्होंने देखी हैं।

संत गरीब दास की रचनाएँ 'हिखर बोध' या 'रत्न सागर' नाम से हैं। इस ग्रंथ के 79 भाग हैं। इसमें 24 हजार पद लिखे गए थे। कुछ विद्वानों ने इस संख्या को 17 हजार भी माना है जिनमें से अब 7 हजार ही प्राप्त होते हैं। अध्यात्मवाद की दृष्टि से इनकी वाणी और कबीर की वाणी में बहुत समानता है। कहते हैं कि उन्होंने छुड़ानी ग्राम में एक 'जंड' (जांड) के वृक्ष के नीचे बैठकर वाणी कहना प्रारंभ किया। इस वाणी को एक दादूपंथी विद्वान साधु गोपालदास ने लिपिबद्ध किया। भाषा की दृष्टि से गरीबदास के साथ सबसे बड़ा साहित्यिक अन्याय यह हुआ है कि उन्हें पंजाबी के कुछ विद्वानों ने पंजाबी भाषा का कवि सिद्ध करने का प्रयास किया है, जबकि वास्तविकता यह है कि वे मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे। उनकी ब्रजभाषा लाख छिपाने से भी नहीं छिपती—'प्रीति की रीति छिपे न छिपाई जी, नैन रू बैन रू सैन सें जानें।'

ऐसे ही एक संत संतदास जी के शिष्य संत चतुरदास हुए हैं, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से श्रीमद्भागवत् गीता के ग्यारहवें अध्याय तथा

श्रीमद्भागवत् के दशम स्कंध का भाषानुवाद संवत् 1652 में किया था।

नितानंदी पंथ के प्रवर्तक संत नितानन्द जी गरीबदास के समकालीन थे। नितानंदी पंथ के हरियाणा में अनेक ठिकाने हैं। श्री भोलादास द्वारा संपादित एवं प्रकाशित ग्रंथ 'सत्य सिद्धांत' में इस पंथ का व्यापक परिचय दिया गया है। इन्होंने ग्रंथ की पुष्पिका में अपनी भेष-प्रणाली का परिचय दिया है। श्री भोलादास इस भेष-परंपरा में अष्टम स्थान पर थे।

हरियाणा के जिला मुख्यालय नारनौल में जन्मे संत कवि स्वामी नितानंद महाराज केवल कवि ही नहीं बल्कि अपने समय के चोटी के साहित्यकार और विद्वान साधक भी थे। 'हरियाणा के संत कवि नितानंद : एक अध्ययन' के विद्वान लेखक डॉ. रामकुमार भारद्वाज एवं श्रीमती अनिता भारद्वाज के अनुसार, इनकी वाणी दोहे व भजन के रूप में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। इनकी वाणी का एक वृहद संग्रह प्रकाशित तो हुआ है, परंतु अब उपलब्ध नहीं है, केवल एक प्रति अब आश्रम (सज्जनपुर) में ही उपलब्ध है। इनकी गद्दी के महंत विचित्रदास इनकी वाणी को पुस्तक के रूप में नहीं लाना





चाहते थे। उनका विचार था कि इससे वाणी अशुद्ध हो जाएगी। परंतु उनके एक भक्त भोलादास जी के प्रयास से संत जी की वाणी की हस्तलिखित प्रति का उनकी कुटिया पर नित्यप्रति पाठ किया जाने लगा था। उसके श्रवण मात्र से ही प्रज्ञाचक्षु जी को वह कंठस्थ हो जाया करती थी, जिसे वे सेठ रामरिछपाल के घर जाकर गुप्त रूप से लिपिबद्ध करवा दिया करते थे। इस प्रकार उनके सतत सत्प्रयास के परिणामस्वरूप यह 'सत्य सिद्धांत प्रकाश' नामक ग्रंथ माजरा के मास्टर देशराज व सेठ रामरिछपाल के सहयोग से प्रकाश में आया। परंतु ग्रामवासियों ने इसको अशुद्ध तथा व्यवसायपूर्ण मानकर इसकी उपेक्षा की। परिणामतः इस कार्य के लिए गाँव वालों ने 15 हजार रुपए एकत्रित करके इसकी एक हजार प्रतियाँ प्रकाशित करवाईं। माजरा में उनके स्थान पर अब भी सन् 1802 की हस्तलिखित प्रति विद्यमान है।

शोधकर्ताओं के अनुसार, स्वामी नितानंद ने अठारहवीं शताब्दी में बीबल खानदान में जन्म लिया था। हरियाणा के साहित्य साधक व संत कवि स्वामी नितानंद के कुलगुरु की जानकारी उनकी एक साखी में इस प्रकार मिलती है-

टेढे-टेढे चालते, टेढी धरते पाग। गुरु गुमानी दास जी, दिया ज्ञान बैराग।।

ब्राह्मण कुल में जन्म था करता बहुत मरोड़। गुरु गुमानी जी दिया कुबुधगढ़ तोड़।।

जयपुर के साथ बसे शाहपुरा गाँव के पंडित सागरमल याजिक (जागा) की पोथी के हस्तलेख के अनुसार, स्वामी नितानंद अकबर के राजदरबारी बीरबल की सातवीं पीढ़ी में से थे और वंशावली से पुष्टि होती है कि नितानंद के बचपन का नाम नन्दलाल था।

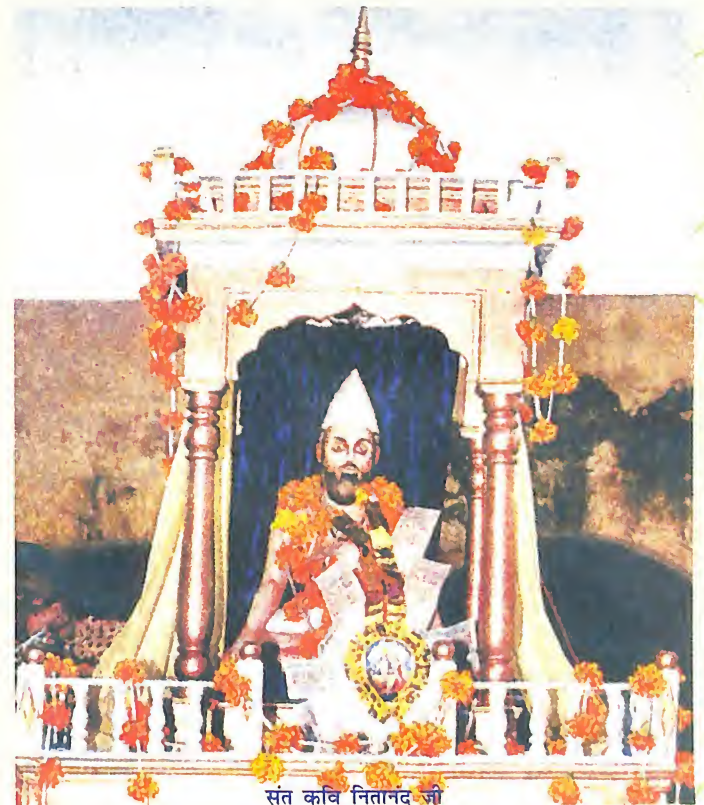
स्वामी नितानंद ने एक कुशल साहित्य शिल्पी की तरह शब्दों को लड़ियों में पिरोकर काव्य को सौंदर्य व श्रेष्ठ भाव का सुंदर कवच धारण कराया है। उन्होंने हर साखी में कलात्मक, भावात्मक सौंदर्य प्रदान करने का प्रयास किया। संत नितानंद ने अभिव्यक्ति को सरल एवं सहज बनाने के लिए प्रतीकों का सजीव एवं धार्मिक ढंग से

प्रयोग किया है। स्वामी नितानंद के काव्य की पांडुलिपियों के संग्रह 'सत्य सिद्धांत प्रकाश' के कई संस्करण निकल चुके हैं। स्वामी नितानंद के काव्य पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में कई वर्ष तक शोध कार्य हुए हैं तथा उनकी काव्य रचनाएं कॉलेज स्तर तक पढ़ाई भी जाती हैं। स्वामी नितानंद की स्मृति में माजरा दूबलधन में हर वर्ष होली पर मेला लगता है। स्वामी नितानंद अपने समय में साहित्य के बेजोड़ शिल्पकार रहे और उनके काव्य का आज भी डंका बजता है।

घीसा पंथ के प्रवर्तक घीसा साहिब एवं उनके शिष्य जीतादास की वाणियां हरियाणा में बड़ी लोकप्रिय एवं प्रचलित हैं। घीसादास जी ने न तो स्वयं कोई क्रमबद्ध ग्रंथ लिखा और न ही किसी अन्य से लिखवाया। वह अपनी मौज से जिस वाणी आदि का उच्चारण करते थे, उसे उनके साथ रहने वाले संत-भक्त लोग लिखकर याद करते थे। उन्हीं के द्वारा कुछ शब्द-वाणियों का संग्रह 'सचित्र ग्रंथ साहिब' में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त तीन और प्रकाशन हैं, जिनमें घीसा जी की वाणी संकलित हैं।

घीसापंथी संत द्योतराम जी अंत समय में जिला जींद का ग्राम निर्जन छोड़कर पिंडारा रहने लगे और वहीं शरीर पूरा किया। संत द्योतराम जी के नाम से 'धर्म सनातन प्रकाशन', 'पंच यज्ञ विधान प्रकाश' तथा 'शुभ कर्म-ज्ञान प्रकाश' नामक तीन रचनाएं पाई जाती हैं।

चरणदासी पंथ के प्रवर्तक चरणदास का जन्म हरियाणा के



संत कवि नितानंद जी

दक्षिणांचल मेवात में सम्वत् 1760 में हुआ। आपकी रचनाओं में भक्ति, योग एवं सदाचार का प्रतिपादन देखने को मिलता है। इनकी समस्त रचनाएं 'भक्ति सागर ग्रंथ' में प्रकाशित हैं। प्रसिद्ध पुस्तकों में अमर लोक, अखंड धाम वर्णन, ब्रज चरित्र, अष्टांग योग, योग संदेह सार, धर्म जहाज, भक्ति पदार्थ, ज्ञान स्वरोदय, ब्रह्मज्ञान, भक्ति सागर आदि हैं।

या तन कूं विरहा लगे, हेली ज्यों घुन लागी काठ।
निसि दिन खाय जातु है, हेली देखूं हरि की बाट॥
हिरदै में पावक जरै, हेली तपि नैना भये लाल।
आंसू पर आंसू गिरै, हेली यही हमारो हाल॥
प्रीतम बिन कल ना परै, हेली कलकल सब अकुलाहिं।
डिगी परूं सत ना रहो, हेली कब पिय पकरे बांहि॥
ब्राह्मण सो जो ब्रह्म पिछाने। बाहर जाता भीतर आनै॥

चरणदास जी के प्रमुख शिष्य रामरूप जी द्वारा रचित 'गुरु भक्ति प्रकाश' जोग जीत द्वारा रचित 'श्री लीला सागर' तथा महन्त गंगा कृत 'श्री श्याम चरणदास चरितावली' (तीनों ही प्रामाणिक) रचनाएं हैं। 'श्री गुरु भक्ति प्रकाश' में महाराज चरणदास की प्रामाणिक जीवनी दी गई है। इसकी सारी रचनाएं दोहा तथा चौपाई छन्दों में हैं, भाषा ब्रज है।

बादली निवासी संत इन्द्राज द्वारा स्थापित हरियाणा का 'कबीर पंथ' अन्य कबीरपंथी संस्थानों से अलग, एक स्वतंत्र पंथ है। इनका कोई प्रकाशित साहित्य उपलब्ध नहीं है। हरियाणा के कबीर पंथ में संत हरदेदास की वाणी को 'हृदय प्रकाश' ग्रंथ में संकलित किया गया है। 'हृदय प्रकाश' के दो भाग हैं तथा पृष्ठ संख्या 411 है। इसके अतिरिक्त, बीर ग्रंथ के उपलब्ध साहित्य में 'मारग सार' (समरतन सागर) संकलनकर्ता: रतन लाल सिंगला, बहादुरगढ़, बाबा दिधारीदास कृत 'बाणी' पुस्तकें गाँव मातनहेल, जिला रोहतक के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरियाणा में दादूपंथ के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय बाबा बनवारीदास, स्वामी हरिदास तथा स्वामी साधुराम को जाता है। हरियाणा से संबद्ध दादू के शिष्यों में केवल बाबा बनवारीदास की ही वाणी उपलब्ध है। डॉ. सूरजभान ने श्रमपूर्वक दादूपंथी साहित्य के हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण दिया है।

'दादूसेवक' (त्रैमासिक), जुलाई 1945 में श्री हरिदास जी की वाणी प्रकाशित की गई है। श्री निश्चल दास जी की वाणी का संकलन 'श्री विचार सागर' ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुआ है। 1979 में प्रकाशित इसकी पृष्ठ संख्या 328 है। इनकी एक और पुस्तक 'श्री वृत्ति प्रभाकर' भी छप चुकी है। श्री अनाथ दास कृत 'विचारमाल', पृष्ठ संख्या 32, लेखन काल संवत् 1892 और श्री चतुरदास कृत

600 पृष्ठ वाले 'भागवत एकादश स्कंध' भाषा - टीका अभी हस्तलिखित ही है।

प्रतिष्ठित विद्वान सत्यपाल गुप्त के मतानुसार, महात्मा हरिदास का जन्म हरियाणा में हुआ। चरखी दादरी के पास राणीला स्थान में दादू पंथी मठ के संस्थापक के रूप में लोकप्रियता हुई। उन्होंने कुछ पद 'रज्जव' नाम से भी लिखे। उनकी कविता का नमूना:-

पातिसाह रहिमान है, सतगुरु तहां दीवान।
गुरु उमरावा हरीदास, मिलि करि दीन्हा ज्ञान॥

समतापंथ, कबीर की निर्गुण संत परंपरा का ही एक गौरवपूर्ण चरण है। समतापंथ के प्रवर्तक संत मंगतराम (सन् 1903-1954ई.) द्वारा रचित 'समता प्रकाश' में पद्य वाणी संकलित है। इसी प्रकार 'श्रीसमता विलास' उनकी एक उत्कृष्ट गद्य रचना है। समता से श्री मंगतराम का अभिप्राय सतगुरु व ब्रह्म से ही है। इसी समत्व के ज्ञान को 'समवाद विज्ञान' कहा गया है।

'बेनामी संप्रदाय' के प्रवर्तक संत कक्कड़ जी का गृहस्थी का नाम गंगाराम तथा जन्म स्थान गाँव मिलकपुर, जिला गुड़गाँव था। कक्कड़ जी के शिष्य बेनामी जी हुए हैं, जिनके नाम पर बेनामी पंथ चल निकला। कक्कड़ जी की कोई वाणी अब उपलब्ध नहीं है, परंतु उनके शिष्य बेनामी जी की वाणी 'बेनामी बोध' नामक ग्रंथ में संकलित है। 'बेनामी बोध' का प्रकाशन स्वामी हरिदास जी ने संवत् 2017 में अलवर (राजस्थान) से करवाया है। इस ग्रंथ में बेनामी जी के अतिरिक्त, उनके शिष्य मंगलदास की कुछ वाणी तथा कुछ साखियाँ गुलाब नामक किसी सत्संगी की भी संग्रहीत हैं।

संत दादुदयाल पहले कवि थे, जिन्होंने हरियाणा की भक्ति भावना का अमृत अपनी वाणी में दिया। इनके शिष्यों में साधु निश्चल दास का बहुत प्रमुख एवं महत्वपूर्ण स्थान है। दादु पंथ के प्रमुख कवि होने के साथ-साथ वे संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे।

कवि एवं दार्शनिक संत निश्चल दास ने आधुनिक वेदांत को जनतंत्र एवं समाजवाद के निकट लाकर दर्शन-साहित्य में एक नई चेतना उपस्थित की। हिंदी भाषा में यह सर्वप्रथम प्रयास था। निश्चल दास ने अपनी कृतियों में सर्वशास्त्रों को अद्वैत का प्रतिपादक माना है। इनके विचार से शास्त्र के निर्माताओं के मूल सूत्रों का अर्थ तो वेद के अनुसार ही है, किंतु उनके व्याख्याकारों को भ्रम हो गया है, अतः उन्होंने मूल सूत्रकारों के अभिप्राय से भिन्न अर्थ कर डाला है।

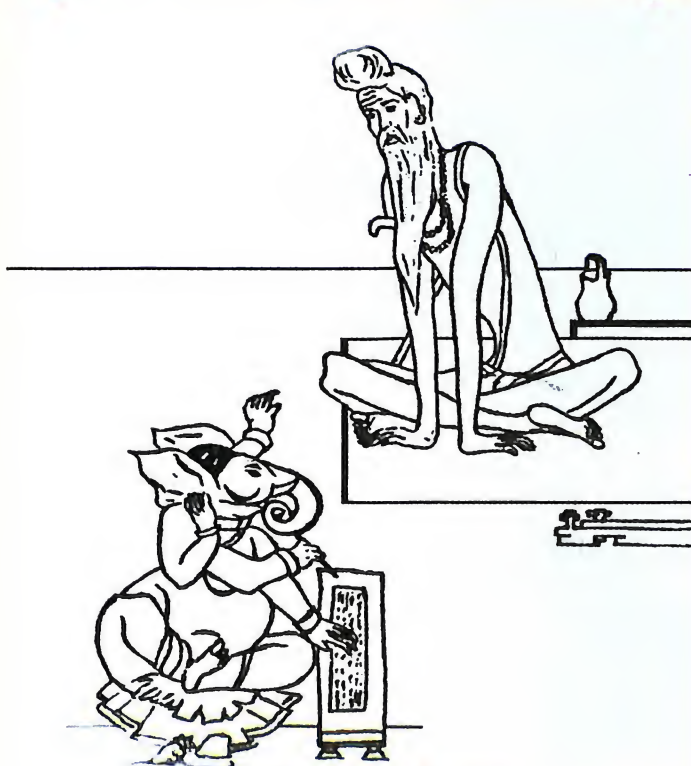
'विचार सागर' निश्चल दास जी की अमर कृति है। इस कृति का साधु समाज में उसी प्रकार अध्ययन और अध्यापन होता है, जिस प्रकार हिंदू परिवारों में रामायण का। 'वृत्तिप्रभाकर' में आए 'विचार

सागर' के उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'विचार सागर' संवत् 1906 से पूर्व ही लिखा गया था। 'विचार सागर' में सात अध्याय हैं, जिन्हें 'तरंग' नाम से अभिहित किया गया है। सागर के साथ तरंग शब्द का प्रयोग समुचित जान पड़ता है।

संत निश्चल दास का ग्रंथ 'वृत्ति प्रभाकर' पांडित्य से भरपूर है। इसके अध्ययन से पूर्व 'विचार सागर' का अध्ययन अत्यावश्यक है। इस कृति में भ्रमवृत्ति का निरूपण ऐसे अपूर्व ढंग से हुआ है कि संस्कृति अथवा हिंदी के किसी एक ग्रंथ में एक ही स्थल पर ऐसा क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता है। निश्चल दास जी कृत 'वृत्ति प्रभाकर' ग्रंथ जीव-ब्रह्म की एकता का पूर्ण प्रकाश देकर संसार रूपी कूप से मुक्ति प्रदान करवाता है।

'युक्ति प्रकाश' की रचना 'विचार सागर' और 'वृत्ति प्रभाकर' के बाद की है क्योंकि इस पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में दोनों ग्रंथों की ही

संतों के विराट व्यक्तित्व की भांति 'संत' शब्द भी बहुत व्यापक है। पं. परशुराम चतुर्वेदी ने 'संत' शब्द का सूत्र ऋग्वेद से खोजा है। 'संत' शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान, पवित्रात्मा, सज्जन, परोपकारी या सदाचारी व्यक्ति के लिए किया गया मिला है और कभी-कभी साधारण बोलचाल में इसे भक्त, साधु या महात्मा जैसे शब्दों का भी पर्याय समझ लिया जाता है।



कुरुक्षेत्र के आश्रम में महर्षि वेदव्यास

बातें पुनः पुनः दृष्टांत देकर कही गई हैं। इस लघु कलेवर रचना में निश्चल दास जी ने ज्ञान संबंधी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यह पुस्तक वेदांत संबंधी पुस्तकों को पढ़े बिना भी जिज्ञासु की ब्रह्मात्म संबंधी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है। इनकी एक अन्य रचना 'भक्ति प्रकाश' का संदर्भ भी पढ़ने में आया है।

संत निश्चल जी ने आयुर्वेद पर भी हिंदी में एक मौलिक ग्रंथ रचा था। इन्होंने ईश एवं कठ उपनिषद और महाभारत पर भी पद टिप्पणी लिखी थी। उपरोक्त दोनों उपनिषदें तथा पद टिप्पणी किहड़ौली पुस्तकालय में रखी देखी गई हैं। 'वृत्त विवरण' नाम की एक पुस्तक हिंदी भाषा में निश्चल दास जी ने लिखी थी। इस ग्रंथ के बहुत से फटे-पुराने पृष्ठ अब भी पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। 'वृत्त दीपिका' नामक रचना का पता इनकी मृत्यु के उपरांत प्राप्त जानकारी से मिलता है। इनके द्वारा लिखे गए पत्र जिनमें इस रचना का संदर्भ है, किहड़ौली पुस्तकालय में आज भी उपलब्ध हैं। परंतु यह कृति भी पुस्तकालय में उपलब्ध नहीं है।

हरियाणा में राधास्वामी पंथ की कई पीठिकाएं स्थापित हैं। परंतु हरियाणा में 'व्यास शाखा' का ही अधिक प्रचार और प्रसार है। राधास्वामी पंथ के उपलब्ध साहित्य में श्री रामसिंह 'अरमान' द्वारा रचित 'अरमान सागर' सन् 1970 पृष्ठ संख्या 132, श्री ताराचन्द, द्वारा रचित 'अनुभव प्रकाश' संस्करण 1972 तथा 1974 पृष्ठ सं. 212, श्री रूप चन्द चौहान कृत 'सतगुरु की दात' (दो भाग) सन् 1977 पृष्ठ सं. 116, पंडित द्वारका दास कृत 'सतगुरु भेद' सन् 1974 पृष्ठ सं. 172 तथा 'सतगुरु कथा' सन् 1975 पृष्ठ सं. 84 पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

हरियाणा संत साहित्य में परमानन्द पंथ का अपना विशिष्ट स्थान है। इस पंथ का मूल बीज राधास्वामी पंथ है। इस पंथ के प्रवर्तक श्री परमानन्द जी का प्रमुख केंद्र गाँव नचकौंटी, जिला भिवानी है। परमानन्द के शिष्यों ने दो पुस्तकों 'परमानन्द आनंद ज्ञान उदय सागर' प्रकाशन सन् 1954 पृष्ठ सं. 92 तथा 'हंस चेतावनी' अथवा 'परमानन्द विलास' का प्रकाशन क्रमशः 1954 तथा 1958 में कराया है। इसकी पृष्ठ संख्या 126 है। इनके अतिरिक्त 'जीवन चरित्र स्वामी सुधानन्द जी महाराज' नाम से एक अन्य पुस्तक (व्यक्तिगत संग्रह) रोहतक निवासी धर्मचन्द किशनचन्द के पास उपलब्ध है।

कुरुक्षेत्र निर्मला संतों का विशेष केंद्र रहा है। इसी स्थान पर संत मानसिंह जी के शिष्य गुलाब सिंह का इस क्षेत्र के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विकास में विशेष योगदान रहा है। इनकी रचनाओं की संख्या 25 से ऊपर कही जाती है, किंतु अभी तक केवल 'भाव रसामृत' रचनाकाल 1834 विक्रमी, 'मोख (मोक्ष) पंथ प्रकाश' रचनाकाल 1835 विक्रमी, 'स्वप्न अध्यायी', 'रामगीता', 'रामहृदय' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक ही मिली हैं। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक

संस्कृत नाटक का भाव रूपांतर है। यह नाटक कुरुक्षेत्र में 1846 विक्रमी में लिखा गया।

इस कवि द्वारा रचित ग्रंथ 'राम नाम प्रताप प्रकाश' में जिन-जिन ग्रंथों का वर्णन है उन सभी के भाव लेकर दोहों की रचना की गई है और यह स्पष्ट किया गया है कि किस-किस ग्रंथ में राम का किस-किस रूप में वर्णन किया गया है। इनकी एक अन्य रचना 'अध्यात्म रामायण' भी है, जो संस्कृत ग्रंथ का अनुकरण है। संस्कृत पद के भाषानुवाद का नमूना इस प्रकार है:-

तब लौं मन माहिं विवेक रहै, सुभ आगम ते उपजिउ इह जोई।

जब लौं नहिं नील सरोरुह में, दिग नारि कटाख्य लगे सर कोई।

यह कवि संस्कृत और ब्रज का पूर्ण विद्वान था। भाषा और छंदों पर इसका पूरी तरह अधिकार था।

संत आत्मा सिंह थानेसर के संत रामसिंह जी के शिष्य थे। इनका रचा केवल एक ग्रंथ 'वेदांत प्रश्नोत्तर माला' ही उपलब्ध है, पूरे ग्रंथ में कुल 268 छंद हैं, जिनमें वेदांत के विषय में प्रश्नोत्तर पद्धति से चर्चा की गई है। संत आत्मा सिंह कविता में अपने नाम जिन्द मृगेश और जीव मृगेन्द्र भी रखते थे।

ज्ञान योग वैराग युत, श्री गुरु राम मृगिंद।

मुण्ड तुण्ड भुजदण्ड सो, वन्दन दण्ड मनिंद॥

श्री अंगिरा शोध संस्थान
419/3, शांतिनगर, पटियाला चौक
जींद-126102 (हरियाणा)
मो. 09416387432



ब्रह्म सरोवर, कुरुक्षेत्र

कलासौध कोणार्क

डॉ. अर्जुन शतपथी

ओड़िशा राज्य की राजधानी भुवनेश्वर से सत्तर किलोमीटर की दूरी पर सागर की बेलाभूमि में स्थित कोणार्क का प्राचीन सूर्य मंदिर विश्व में मंदिर स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है। पुरी से कोणार्क जाने के लिए बेलाभूमि रोड बना है। इस मार्ग से पुरी से कोणार्क केवल सैंतीस किलोमीटर पड़ता है।

कोणार्क सूर्य मंदिर का अवशेष एक अनोखे प्राकृतिक परिवेश में खड़ा है। मुख्य मंदिर कराल की मार से धराशायी हो चुका है। उसका खंडहर अतीत के गौरव का साक्षीस्वरूप विद्यमान है। अब केवल मंदिर की भव्य मुखशाला खड़ी है जिसमें आगे-पीछे, दाएं-बाएं दूर-दूर तक फैले रेतिले मैदान पर झाऊं के घने वन हैं। पूर्व में पुराण प्रसिद्ध चंद्रभागा नदी सागर संगम के लिए आगे बढ़ते-बढ़ते अचानक खो गई है। अब उसकी केवल स्मृति शेष है। प्रति वर्ष उसके मुहाने पर माघ शुक्ल सप्तमी 'तिल सप्तमी' के दिन मेला लगता है। यह वही स्थान है जहाँ श्रीकृष्ण के सुपुत्र शाम्ब ने कोढ़ व्याधि से मुक्त होने के लिए हजारों वर्ष तपस्या की थी। क्षितिज को छूने वाली सागर की नील जलराशि यहाँ आने वाले पर्यटकों का मुख्य आकर्षण है। सागर का तटवर्ती क्षेत्र सागर की ओर से अविрам चलने वाली हवा के शीतल-सुखद झोंके से सदा उल्लसित रहता है। हवा नारियल, पुलांग और झाऊ वन में अठखेलियाँ करती है। उससे सनसन की मीठी आवाज गुँजती है। समूचा परिवेश पुलकित और मुखरित हो उठता है।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी में इस वीरान क्षेत्र में उत्कल के तत्कालीन कलाप्रिय सम्राट श्री लांगूला नरसिंह देव ने विश्व की अद्वितीय कलाकृति सूर्य मंदिर के निर्माण का सपना देखा था। वे बड़े प्रतापी सम्राट थे। उन्होंने अपने राज्य काल (सन् 1238-1964) में गंगा से गोदावरी नदी तक अपने साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया था एवं

आक्रामक यवनों को मार भगाया था। उन्होंने राज्य-विजय की खुशी में जो स्मारक बनवाया था, वही कोणार्क का सूर्य मंदिर है।

मंदिर स्थापत्य के शास्त्रीय नियमानुसार सूर्य मंदिर की रूपरेखा बनी थी। उदान से कलश तक की ऊँचाई एक सौ अठाईस फुट और चौड़ाई उन्तीस फुट रखी गई थी। मंदिर के तीन द्वार थे। समूचे मंदिर

की संकल्पना भी बड़ी अनोखी लगती है। मुखशाला से गर्भगृह तक सारा परिसर चार भागों में विभाजित है- मुखशाला, जगमोहन, नाट्य मंडप और गर्भ गृह। मंदिर का ढांचा इतना स्पष्ट है कि यहाँ आने वाले दर्शकों को उसकी भव्यता और महानता का सहज ही अहसास होता है। कमल की विशाल आकृति पर भगवान आदित्य देव का स्वर्ण रथ खड़ा है, जिसमें सात घोड़े जुते हैं। रथ के बारह जोड़े पहिए हैं एवं प्रत्येक पहिए के सोलह अलंकृत आरे हैं।

मंदिर का गात केवल पाषाण की दीवारें नहीं हैं। उस पर तत्कालीन सामान्य जीवन पर आधारित इतने सारे उदात्त शिल्प हैं कि उसे देखकर लगता है कि प्राचीन संस्कृति संजीवित है। नारियों के अंगों में आधुनिक आभूषण, हाथ में तलवार लिए हुए सैनिकों की टोली, अनुग्रह की मुद्रा में सेवक, प्रत्यंचा पर तीर चढ़ाते शूरवीर, हाथियों के झुंड को खदेड़ते लोग, शिकार खेलते शिकारी आदि अनेक भित्ति शिल्प हैं। इतना

ही नहीं अपितु तत्कालीन उत्कल के वैभव और शक्ति का प्रदर्शन भी कई रूपों में किया गया है। पूर्वी द्वार में हस्तीबल के प्रतीक दो बड़े-बड़े हाथी खड़े हैं जिनकी सूँड में मानव की एक-एक मूर्ति है। पश्चिमी द्वार पर अश्ववाहिनी के प्रतीक दो अलंकृत अश्व हैं। उत्तरी द्वार पर दो महाबली सिंह हाथी पर सवार हैं। मुख्य द्वार के प्रहरी स्वरूप गज विराल (हाथी के ऊपर सिंह) और नर विराल (मुख भाग मनुष्य का और शरीर सिंह का) विद्यमान हैं जो सैलानियों के लिए आकर्षण का केंद्र है।



मुख्य मंदिर में प्रवेश के लिए नीचे से ऊपर तक नौ सीढ़ियाँ हैं। उसके द्वार तोरण पर नवग्रहों की झाँकियाँ थीं। मुख्य द्वार ढह जाने के बाद भी वे झाँकियाँ श्रद्धालु दर्शकों के लिए सुरक्षित हैं जहाँ आज भी प्रतिदिन पूजा-पाठ होता है।

मंदिर के अंदर दीवारों पर विभिन्न देवी-देवताओं की आकृतियाँ हैं। कई जगहों पर गजलक्ष्मी और वीणावादिनी सरस्वती की मूर्तियाँ हैं। शंकर-पार्वती की युगल मूर्तियाँ तथा ईशान-ईशानी के जोड़े इतने सुंदर और चिकने हैं कि शिल्पी की निपुणता स्वतः प्रमाणित हो जाती है।

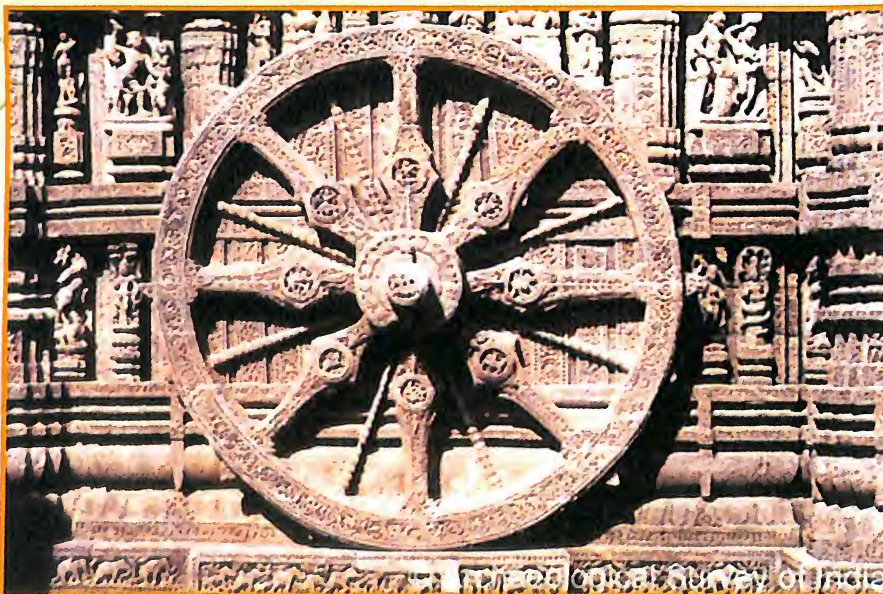
इसमें संदेह नहीं है कि कोणार्क का सूर्य मंदिर भारतीय वास्तुशिल्प का एक चमत्कार है। मंदिर के गर्भगृह में भगवान अर्क-देव की भव्य प्रतिमा एक कोने में इस रूप में स्थापित हुई थी कि उसके मुखमंडल पर सूर्यादय से सूर्यास्त तक सूर्य की किरण छाई रहती थी और पीछे प्रभामंडल रहा करता था जो सचमुच आधुनिक प्रोद्योगिकी के लिए एक चुनौती थी। नृत्य कला की विभिन्न मुद्राओं का यहाँ जिस प्रकार प्रदर्शन किया गया है, उसे अनूठा ही कहा जाएगा। लोहे की छैनी और हथौड़े से निपुण कलाकारों द्वारा गढ़ी गई मूर्तियाँ सैकड़ों वर्षों तक निरंतर प्रकृति की मार झेलते हुए भी आज जीवंत लगती हैं।

सूर्य मंदिर से संबंधित अनेक दंत कथाएं आज तक जन-मानस में हैं। उनमें 'धर्मपद' की कथा अत्यंत मार्मिक है। मंदिर का मुख्य शिल्पी विशु या विश्वनाथ महाराना विवाह के कुछ ही दिनों बाद मंदिर निर्माण के लिए अपने गाँव से यहाँ आया था। मंदिर के निर्माण कार्य



में व्यस्त रहने के कारण उसे सोलह वर्षों तक अपने घर-परिवार से मिलने का अवसर नहीं मिल पाया। घर से चलते समय उसकी पत्नी गर्भवती थी। कुछ समय बाद उसने एक बालक को जन्म दिया और उसका नाम 'धर्मपद' रखा गया। सोलह वर्ष की अवस्था में वह बालक अपने पिता की खोज में निकला। जब वह कोणार्क पहुँचा तो मंदिर का निर्माण कार्य लगभग पूरा होने को था लेकिन निर्माण कार्य में लगे बारह सौ कारीगर एक समस्या के कारण बहुत चिंतित थे। समस्या यह थी कि मंदिर पर कलश बिठाने में कोई शिल्पी सफल नहीं हो पा रहा था। कलश बार-बार ढह जाता था। इसी बीच मुगल सेनाओं ने उत्कल पर चढ़ाई शुरू कर दी थी और राजा नरसिंह देव को मुगलों को रोकने के लिए बंगाल की सीमाओं पर जाना पड़ा। राजा ने युद्ध पर जाने से पूर्व राजकाज की बागडोर महामात्य चालुक्य को सौंप दी। चालुक्य एक धूर्त और अवसरवादी व्यक्ति था। उसने राजा के जाते ही राजा के खिलाफ षडयंत्र रचना शुरू कर दिया। उसने मंदिर निर्माण में लगे कारीगरों को आदेश दिया कि यदि

एक सप्ताह के भीतर वे कलश स्थापित नहीं कर पाते हैं तो सभी कारीगरों के हाथ कटवा दिए जाएंगे। सिरफिरे शासक का फरमान ही कारीगरों को परेशान किए हुए था। कारीगरों की दुविधा के दौर में पत्थर काटने वाला नक्काश धर्मपद तारणहार बनकर अचानक वहाँ पहुँचा। साधारण से पत्थर काटने वाले समझे जाने वाले धर्मपद ने अपने घर पर वास्तुशास्त्र का अध्ययन किया था। उसने मंदिर की नापी की जाँच करके मंदिर के प्रधान शिल्पी अपने पिता को मंदिर के शिखर निर्माण का तरीका बताया। धर्मपद के सुझाव से रातों-रात कलश निर्माण करके मंदिर का निर्माण पूरा हुआ। अपने पिता सहित बारह सौ कारीगरों के प्राण बचाने और राज कोप से बचने के लिए इस घटना को छुपाना जरूरी था, अतः धर्मपद ने





मंदिर की चोटी से कूदकर आत्महत्या कर ली।

एक कथा के अनुसार, सूर्य मंदिर के शिखर पर एक चुंबक पत्थर लगा था जिसके प्रभाव से कोणार्क के समुद्र से गुजरने वाले सागरपोत उसकी ओर खिंचे चले आते थे, जिससे उन्हें भारी क्षति होती थी। एक अन्य कथा के अनुसार, इस चुंबक पत्थर के कारण पोतों के चुंबकीय दिशा निरूपण यंत्र सही दिशा नहीं बता पाते थे, अतः अपने पोतों को बचाने के लिए मुस्लिम नाविक इस पत्थर को निकाल ले गए। यह पत्थर एक केंद्रीय शिला का कार्य करता था और इससे मंदिर की दीवारों के सभी पत्थर संतुलन में बने हुए थे। इस पत्थर को हटाए जाने के कारण मंदिर की दीवारों का संतुलन बिगड़ गया और वे गिर पड़ीं। इस घटना का कोई ऐतिहासिक विवरण

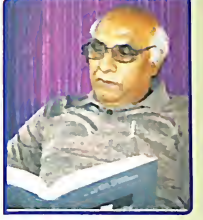
नहीं मिलता है और ना ही ऐसे किसी चुंबकीय केंद्रीय पत्थर के अस्तित्व का कोई ब्यौरा उपलब्ध है।

कोणार्क मंदिर के गिरने से संबंधित एक कथा काला पहाड़ से भी जुड़ी है। इतिहास के अनुसार काला पहाड़ नामक आक्रांतकारी ने सन् 1508 में उड़ीसा पर आक्रमण किया और कोणार्क मंदिर सहित उड़ीसा के कई मंदिरों को ध्वस्त कर दिया। हालांकि कोणार्क मंदिर की मोटी-मोटी दीवारों को तोड़ना असंभव था, लेकिन किसी प्रकार से वह मंदिर के गर्भगृह शिखर के दधिनौति पत्थर (मेहराब की शिला) को हिलाने में कामयाब रहा और यही इस मंदिर के गिरने का कारण बना। दधिनौति के हटने के कारण ही धीरे-धीरे मंदिर की छत से भारी पत्थर गिरने से छत भी ध्वस्त हो गई।

आकाशवाणी मार्ग,
जगदा, राउरकेला-769042
(ओडिशा)

सांस्कृतिक समन्वय के महान कवि : अमीर खुसरो

डॉ. राजेन्द्र गौतम



भारत की विविधता में एकता की सही पहचान यहाँ की भाषाओं और उनमें रचित साहित्य से होती है। भाषा का संबंध धर्म और संप्रदाय से उतना नहीं, जितना भूगोल और संस्कृति से है। साहित्य सांस्कृतिक विकास का सहयात्री है और भाषाएँ उसकी आत्मा की वाहक। अनेक भाषाओं में रचे गए भारतीय साहित्य की क्षेत्रीय पहचान जितनी स्पष्ट है, उतना ही वह भारतीय भूगोल, संस्कृति, समाज एवं इतिहास से जुड़ा है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का भारत व्यापक सामाजिक, भाषिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवर्तनों से गुजर रहा था। प्रतिनिधि साहित्यकार बैरोमीटर की तरह अपने समय के परिवर्तनों को दर्ज किया करता है। खुसरो ऐसे ही साहित्यकार हैं। उनकी रचनाओं में उनके युग की धड़कन सुनाई देती है। उन्होंने फारसी के साथ-साथ उस हिंदुस्तानी जुबान में भी साहित्य रचा है, जिसका एक रंग खड़ी बोली का है और दूसरा उर्दू का। उनमें अभिजात और जन-संस्कृति का दुर्लभ संगम है। वे दरबार और जनता-दोनों से जुड़े थे। उनकी सर्जना में भाषा, संस्कृति और काव्य रूपों की विविधता है।

खुसरो की भाषा से तो यही लगता है कि खड़ी बोली और उर्दू का जन्म साथ-साथ हुआ होगा पर आश्चर्य यह है कि न तो उत्तर भारत में उन्नीसवीं शताब्दी से पहले खड़ी बोली का उल्लेखनीय साहित्य उपलब्ध है और न ही खुसरो तथा मीर-गालिब के बीच की कई शताब्दियों की कड़ी स्पष्ट रूप से जुड़ी नजर आती है। मध्यकाल में उपलब्ध दक्षिणी हिंदी के साहित्य की आत्मा उर्दू के भी उतनी ही नजदीक है, जितनी खड़ी बोली हिंदी के। भारतीय साहित्य के इतिहास में दसवीं शताब्दी के बाद आए नये मोड़ का कारण उत्तर में हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का टकराना, पास आना और समन्वित होना भी है। खुसरो का काव्य इस प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु है। खुसरो की तमाम साहित्यिक विशेषताएँ ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के दौरान हुए भाषा-परिवर्तनों से गहरे जुड़ी हैं। प्रायः आम आदमी की जुबान और क्लासिक भाषाओं में एक दूरी रहती है। खुसरो ने क्लासिक भाषा फारसी में तो लिखा ही, लोक से जुड़ी उस 'हिंदुस्तानी ज़बान' में भी खूब लिखा जिसका जन्म विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है। खुसरो से पूर्व मसरूद, साद सलमान, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती तथा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी 'हिंदुस्तानी' में रचना कर चुके थे। इनकी रचनाएँ हिंदुओं और मुसलमानों के मेल-जोल का परिणाम थीं। इनमें सबसे अधिक



ख्याति खुसरो को मिली। खुसरो की प्रासंगिकता के संबंध में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है: "सदियाँ गुज़र जाने के बाद भी उनके गीतों में जनता के लिए इतनी कशिश है और आज जब हमारे सम्मुख जीवन-मूल्यों के विकास का प्रश्न उपस्थित है तो अमीर खुसरो के योगदान का स्मरण हो आता है।"

सूफी संतों की दरगाहों और खानकाहों से जुड़ी परंपराएँ लोक-मन को एक संप्रदाय-मुक्त आराधना की ओर प्रवृत्त करती रही हैं। ऐसे संतों में निजामुद्दीन औलिया का नाम अतिविशिष्ट है। खुसरो इसी लोक-प्रसिद्ध संत के शिष्य थे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी खुसरो का जन्म सन् 1253 में हुआ। उनका पूरा नाम अबुल हसन यमीनुद्दीन खुसरो 'अमीर' था। कुछ विद्वान् उनका जन्म पटियाली गाँव, जिला एटा में मानते हैं पर नए अनुसंधानों के अनुसार वे दिल्ली में पैदा हुए थे। फारसी के प्रसिद्ध विद्वान मुमताज हुसैन का यही मत है। मध्य एशिया में जन्मे उनके

पिता अमीर सैफुद्दीन मुहम्मद खुसरो के जन्म से थोड़ा पहले ही भारत आए थे। वे तुर्किस्तान के 'लाचीन' कबीले के सरदार थे। मंगोल आक्रमणकर्ता चंगेज खां की बर्बरता के सताए सैफुद्दीन मुहम्मद को अपना देश छोड़ना पड़ा था। तब दिल्ली का शासक शमसुद्दीन अल्तमश था। सैफुद्दीन को लड़ाई में महारत हासिल थी। उसी के बल पर वे अल्तमश के दरबार तक पहुँचे। अक्सर जो पिता हालात के कारण अच्छी तालीम से महरूम रह जाते हैं, वे शिक्षा के महत्व को और भी अच्छी तरह समझने लगते हैं। सैफुद्दीन मुहम्मद ऐसे ही पिता थे पर अपने बेटे खुसरो को बेहतर शिक्षा दिलाना चाहते थे। इसी चाह में वे खुसरो को अपने समय के पहुँचे हुए संत निजामुद्दीन औलिया का मुरीद बनाने ले गए। खुसरो में बचपन से ही विद्यमान काव्य-प्रतिभा लेकर



एक किंवदंती है। जब खुसरो के पिता उन्हें निजामुद्दीन से मिलवाने पहुँचे तो कुछ समय उन्हें बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। तब वहाँ आने के मकसद से अनाश्वस्त खुसरो ने विरक्त भाव से यह मन में सोचा:

तू आं शाहे के: बर ऐवाने कसरत, कबूतर गर नशीनद बाज़ गरगद।

गरीबे मुस्मंदे बर दर आमद, बयादद अंदरु या बाजगरदद।

(तू ऐसा शाह है कि तेरे कंगूरे पर यदि कबूतर आ बैठे तो बाज बन जाए। एक निस्पृह गरीब तेरे दर पर खड़ा है। वह अंदर आए कि बाहर से ही लौट जाए।)

कहते हैं कि खुसरो के ऐसा सोचते ही औलिया के सेवक ने आकर यह पद पढ़ कर सुनाया:

ब यायद अंदरूं मरदे हकीकत कि बामा यकनफस हमराज गरदद

अबार अब लह बुअद आं मरदे नादां, अजां राहे कि आमद बाजगरदद

(ऐ हकीकत को जानने के इच्छुक अंदर आ जाओ ताकि हमारे रहस्यों से कुछ परिचित हो सको और यदि आगंतुक के मन में ज्ञान की खोज की इच्छा नहीं है, तो वह जिस राह से आया है, उसी राह से लौट जाए।)

यह सुनते ही खुसरो अंदर दौड़े गए और औलिया के कदमों से लिपट

गए। इतिहास, लोक विश्वास और खुसरो की शायरी इस बात के साक्षी हैं कि औलिया से खुसरो का प्रगाढ़ भावात्मक संबंध रहा। कविता का जो जज्बा उनके भीतर था, गुरु की प्रेरणा से वह झरना बन कर फूट निकला। खुसरो के धर्म और संप्रदाय की कट्टरताओं से अलग मनुष्य-मात्र से प्यार करने वाले व्यक्तित्व को बनाने में निजामुद्दीन औलिया का महत्वपूर्ण हाथ था। सभी धर्मों के रीतिरिवाजों का सम्मान करने का उनका गुण खुसरो में भी विकसित हुआ।

खुसरो का जीवन बहुत उतार-चढ़ाव भरा एवं घटनापूर्ण रहा। अपने जीवन-काल में वे अनेक शासकों, राजनीतिविदों, संतों एवं बुद्धिजीवियों के संपर्क में आए। इन अनुभवों से उन्होंने बहुत कुछ सीखा। साथ ही जीवन में अनेक संघर्षों को भी झेला। इस क्रम में वे एक सैनिक, सलाहकार, अध्यापक, पुस्तकालय-कर्मि, संगीतकार और कवि की भूमिकाएँ निबाहते रहे। अमीर खुसरो ने गुलामवंश से तुगलकवंश तक के ग्यारह सुलतानों के वक्त को देखा। इनमें से सात के दरबार में उन्हें भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निबाहने का अवसर मिला। दो साल तक वे मुगल फौज द्वारा बंदी भी बनाए गए। अल्लाउद्दीन खिलजी के साथ



भी उनका लंबा समय बीता। कहते हैं कि पद्मावती के बारे में उन्होंने सुलतान को समझाने की कोशिश भी की थी। परिस्थितिबश वे सुलतान के दूत बन कर भी गए। पद्मावती के अद्भुत सौंदर्य ने उनको प्रभावित भी किया। इस प्रकार लंबी राजनैतिक उथल-पुथल के वे साक्षी रहे। पर इस समूचे घटनाक्रम में उनका कवि जाग्रत रहा। वे निरंतर लिखते रहे। 'परंपरा निर्वाह' के रूप में उन्होंने शाह-ए-वक्त की प्रशंसा में कसीदे भी कहे पर इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। बाद में तो उन्हें ऐसा करने का मलाल ही रहा। उन्हें लगता रहा कि उन्होंने दौलत के लिए यह किया। उन्होंने दौलत पाई भी पर उस सारी दौलत को उन्होंने जरूरतमंदों और खुदा के बंदों पर लुटा दिया जिससे उन्हें कुछ राहत मिली। खुसरो को सबसे ज्यादा खुशी जनभाषा में आम आदमी की जिंदगी को कविता में ढालने से मिली।

जीवन के अंतिम चरण में खुसरो धीरे-धीरे अध्यात्मोन्मुख होते चले गए। वे दरबार में तो निरंतर जाते पर वे अपने निजाम को भी समर्पित रहे। अब उन्हें लगने लगा कि वे दो शरीर, एक आत्मा हैं। इस एकरूपता का ही यह परिणाम हुआ कि निजामुद्दीन की मृत्यु के बाद वे अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। माना जाता है कि हजरत निजामुद्दीन की मृत्यु के समय खुसरो शाही काम से लखनौती गए थे। उन्हें वहीं हजरत निजामुद्दीन के देहांत का समाचार मिला। इस घटना के खुसरो पर पड़ने वाले प्रभाव का काल्पनिक चित्र सुदर्शन चोपड़ा ने अपनी पुस्तक 'अमीर खुसरो' में यों खींचा है:



समाचार क्या था मानो यमराज का परवाना था। सुनते ही खुसरो सन्न रह गए। लगा कि कयामत आ गई... प्रलय मच चुकी है। हर ओर पानी ही पानी बह रहा है... और वह उस जल-प्लावन में असहाय बहे चले जा रहे हैं... विशाल जगत सिमटने लगा है... चहुँ ओर धुंध ही धुंध छाने लगी है... सूर्य का प्रकाश बुझने लगा है... इसी सन्निपात की सी अवस्था में खुसरो दिल्ली पहुँचते हैं। कपड़े फटकर तार-तार हो चुके हैं। चेहरा बुझा-बुझा, बाल बिखरे हुए तथा धूल-धूसरित खड़े हैं खानकाह के द्वार पर। साहस नहीं बटोर पा रहे हैं अपने पीर की मृत देह देखने का।... एक लंबी ठंडी आह निकल जाती है और कदम बढ़ जाते हैं भीतर। भीतर चिर निद्रा में पड़े हैं पीर औलिया। देखते ही पछाड़-सी खा जाते हैं। खुसरो बेकाबू होकर पीर के कदमों पर अपना सर पटक देते हैं... ऐसी बेखुदी में लगने लगता है, सूरज का तपता हुआ गोल धुंधलाता-धुंधलाता एकदम से बुझ गया है।... हर ओर रात की सियाही ही फैल गई है।... और दूर कहीं क्षितिज पर एक सुंदरी की ऐसी आकृति उभर रही है जो अपने मुँह पर केश डाले सोई पड़ी है। अनायास ही खुसरो के होंठों से सरक पड़ते हैं फुसफुसाहटी स्वर में ये शब्द:

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस

खुसरो का यह अमर दोहा उनसे एकाकार हो गया है। उनका नाम लेते ही यह जुबान पर आ जाता है। इसमें पूरा सूफी दर्शन समाहित है। खुसरो की मजार पर आयोजित होने वाले वार्षिक उर्स का आरंभ इसी दोहे से होता है। निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही 1325 में खुसरो का भी देहांत हो गया था।

माना जाता है कि खुसरो ने फारसी और हिंदुस्तानी में 99 ग्रंथ रचे थे लेकिन उनमें से अब 22 ही उपलब्ध हैं। खुसरो के पाँच 'दीवानों' में गजलें, गीत और अन्य विधाओं की रचनाएँ संकलित हैं। उनकी पाँच 'मसनवियाँ' मानी गई हैं। पाँच मिसरों वाली कविता के विशेष रूप 'खम्सः' की रचना खुसरो ने की है। खुसरो ने दीवान की भूमिका लिखने का चलन आरंभ किया। एजाज-ए-खुसरवी, खजायनुल फुतूह तथा अफजलुल कवायद उनकी गद्य पुस्तकें हैं। उर्दू में आलोचना की शुरुआत भी खुसरो ही करते हैं। उनकी प्रसिद्ध फारसी पुस्तकें हैं: नूह सिपहर, देवलरानी व खिज़्रखान, हस्तबहिशत, मजनू-लैला, तुगलकनामा, गुरःतल कमाल,

किरनु-उस्-सदीन, मिफ्ता-उल्-फुतूह, मतला-उल्-अनवर, सीरी खुसरो तथा आइना-ए-सिकन्दरी। खुसरो की हिंदवी एवं उर्दू की रचनाएँ गीत, पहेली, मुकरियाँ, दो सुखना एवं ढकोसला के रूप में लोककंठ में अधिक जीवित रही हैं। इन रचनाओं का प्रमुख उपजीव्य लोक रहा है, इसलिए बहुत-सी रचनाओं के पाठ पर आलोचकों ने यह संदेह भी व्यक्त किया। 'खाली कबारी' भाषा-शिक्षण के लिए लिखी गई पुस्तक है। इसके 194 छंदों में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के हिंदी पर्याय कविता के रूप में दिये गए हैं। भाषाओं के संक्रमण के उस काल में यह प्रशंसनीय प्रयास था। पर्याय-कथन की रोचक शैली के ऐसे उदाहरणों के कारण 'खालीकबारी' अत्यधिक लोकप्रिय हुई:

दस्त बिरंजन कंगन कहिए, पायल है खलखाल,
पाय बिरंजन चूड़ा कहिए, खूबी हुस्न व जमाल।

काव्य-रूपों का खुसरो जितना विविध प्रयोग कम कवियों ने किया है। उन्होंने संगीत के क़व्वाल, तराना, नक़्श, निगार, बसीत, तिल्लाना, फर्सी, फर्द और सोहला जैसे लोकपरक रूपों का भारतीय और फारसी संगीत शैलियों में मिश्रण कर हिंदुस्तानी संगीत की नींव रखी। अपनी कविता को भी उन्होंने इन्हीं रूपों में ढाला। फारसी और हिंदुस्तानी संगीत और छंदों तथा विविध राग-रागिनियों का जो सम्मिश्रण खुसरो ने अपने काव्य में किया है, वह उनकी उर्वर प्रतिभा का परिचायक है। हिंदी में उन्होंने प्रचलित काव्यरूपों का प्रयोग तो किया ही, अनेक नये काव्य-रूप भी गढ़े। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख काव्य-रूप हैं: गीत (जिनमें बाबुल गीत, झूला गीत, सावन गीत, बसंत गीत आदि शामिल हैं), बूझ और अनबूझ पहेलियाँ, कह मुकरियाँ, दो सुखना, अनमेलिया या ढकोसला, निसबत, गजल, और दोहा।

गीत : खुसरो भारतीय संगीत से तो प्रभावित थे ही, वे लोक से भी गहरे जुड़े थे। इसलिए वे कविता की उन राहों पर अधिक चले हैं जो सीधी जन से जुड़ी हैं। गीत कविता की ऐसी ही राह है। खुसरो के समय तक अपभ्रंश छंदों का प्रयोग ही अधिकतर होता था और गीत का प्रयोग चांचरी, फाग आदि लोकनृत्यपरक रचनाओं में ही अधिक मिलता है। खुसरो ने गीत की सामूहिकता को तो अपनाया ही, उसे एक ऐसा दार्शनिक रंग भी दिया, जिससे उनके गीत जनकण्ठ में अमर हो गए; 'रोमांटिक' होकर भी 'क्लासिकल' बन गए। वे आज भी जनता की जुबान पर हैं। नए मीडिया ने कभी फिल्म में, तो कभी अन्यत्र खुसरो के गीतों का भरपूर प्रयोग किया है। आबिदा परवीन और नुसरत फतह अली ख़ां ने अपने गायन से खुसरो के गीतों को लोक में पुनर्जीवित कर दिया है। खुसरो का नुसरत फतह अली ख़ां द्वारा गाया गया एक प्रसिद्ध गीत है:

सकल बन फूल रही सरसों
अंबवा फूले, टेसू फूले, कोयल बोले डार-डार,
और गोरी करत सिंगार
मलनियाँ गुंदवा ले आई कर सों।
तरह-तरह के फूल लगाए, ते गुंदवा हाथों में आए-
निजामुद्दीन के दरवज्जे पर आवन कह गए आशक
रंग और बीत गए बरसों।

यह है खुसरो के गीतों की रंगत! उनका सूफी अंदाज उनके गीतों में बखूबी देखा जा सकता है। सूफी जिस हकीकी इश्क-- अलौकिक प्रेम की पीर गाते हैं, उसे मजाजी इश्क-- लौकिक प्रेम के बिना अनुभव का विषय नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए खुसरो के गीतों में साजन, नैहर, पिया का घर जैसे वे शब्द आए हैं जो आध्यात्मिक संदर्भों में विशेष प्रतीकार्थ रखते हैं। इन संदर्भों ने एक खास तरह के गीतों को जन्म दिया है, जिन्हें 'बाबुल गीत' कहा गया है। खुसरो के गीत भारतीय परिवारों की, यहाँ के जनजीवन की गहरी छाप लिए हैं। उनकी ऐसी ही एक अद्भुत रचना है:



काहे को बियाही विदेस, सुन बाबुल मोरे।
भइया को दीहे महला-दुमहला, हम के दिहे परदेस।
सुन...
मैं तो बाबुल तेरे खूँटे की गइयाँ, हँका-हूँकी जाउँ
परदेस। सुन...
हम तो बाबूल तेरे पिंजड़े की चिड़िया रात बसे उड़
जाउँ। सुन...
ताख भरी मैंने गुड़िया जो छोड़ी, छोड़ा दादा मियाँ का
देस। सुन...
प्यार भरी मैंने अम्मा जी छोड़ी, छोड़ी दादी की गोद।
सुन...
कोठे तले से पलकिया जो निकली, बिरना ने खाई
पछाड़। सुन...
परदा उठा के मुन्नी जो देखी, आए बेगाने देस। सुन...

‘बेगाने देस’ और ‘नैहर’ के प्रतीकार्थ द्वारा भारतीय स्त्री की वेदना-गाथा की झलक इस गीत में बहुत स्पष्ट है। आज लड़के और लड़की के बीच भेदभाव का जो मुद्दा उठाया जाता है, उसकी झलक भी इस गीत में विद्यमान है।

पहेलियाँ : खुसरो अपने समय के लोक-मन तक उतरने में इसलिए सफल हुए क्योंकि उन्होंने उस तक पहुँचने के सही रास्ते की खोज की। उस समय का उच्च मुस्लिम वर्ग फारसी जुबान का ही प्रयोग करता था, इससे वह भारतीय जन-मानस से नहीं जुड़ पाता था। खुसरो ने ठेठ देशज शब्दों का व्यवहार अपनी पहेलियों, मुकरियों और दो-सुखना में किया है। पहेली की रोचकता, जिज्ञासा और क्रीड़ापरकता की शक्ति के कारण खुसरो जन-साधारण से जुड़ सके। वे हिंदवी को दरबार तक ले जा रहे थे और दरबार को इस जुबान के माध्यम से जनता से जोड़ रहे थे। खुसरो ने प्रबुद्ध पाठकों के लिए बूझ पहेली और सामान्य पाठकों के लिए अनबूझ पहेली की रचना की। खुसरो की अधिकांश बूझ पहेलियों में लक्षित अर्थ श्लेष अलंकार के रूप में शब्द-रूप में विद्यमान रहता है। ऐसे चमत्कार का आधार खुसरो का बहुभाषा ज्ञान तो है ही, इससे यह भी पता चलता है कि वे भाषा-विज्ञान के इस नियम के भी कायल थे कि शब्द का एक ही निश्चित अर्थ नहीं होता। वह तो हवा में बहुत से अर्थों को उछाल देता है। संदर्भानुसार उनका अर्थ ग्रहण करना होता है। खुसरो की पहेलियों के दो रोचक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं:

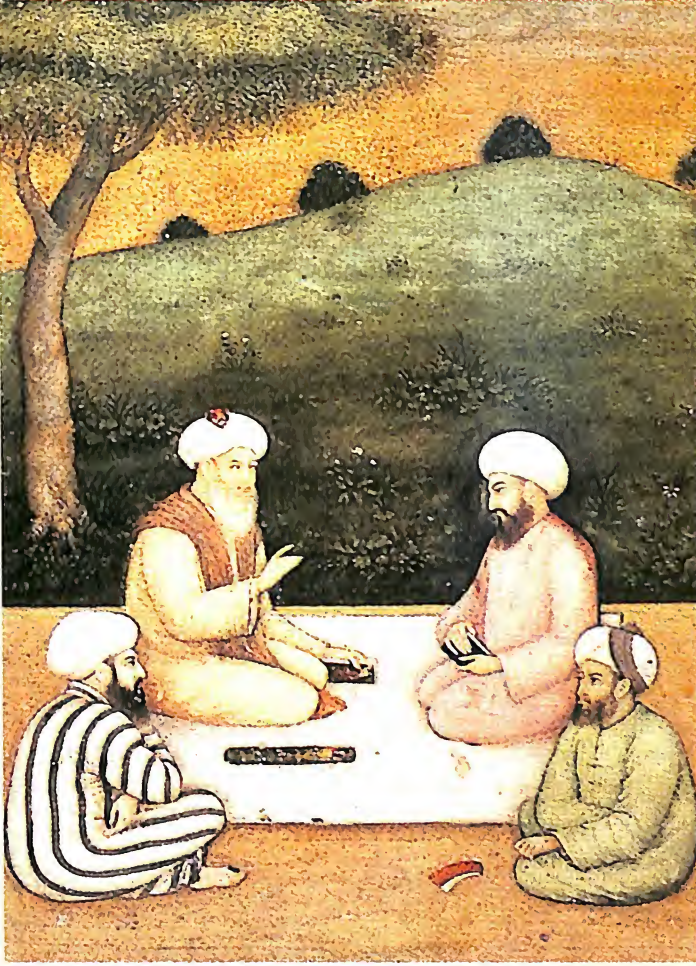
श्याम बरन और दाँत अनेक लचकत जैसी नारी
दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री --
आरी



एक पुरुष ने ऐसी करी खूँटी ऊपर खेती करी
खेती बारी दई जलाय वाई के ऊपर बैठा खाय --
कुम्हार

कह मुकरियाँ: संस्कृत काव्यशास्त्र में मूल बात छिपा कर दूसरी बात या दूसरे तथ्य को सामने लाने वाले अलंकार को अपहृति अलंकार कहते हैं। भाषा की ऐसी विशेषता का उदाहरण खुसरो ने मुकरियों में उपस्थित किया है। मुकरना का अर्थ ही है-- अपनी कही बात से हट जाना या इंकार कर देना। यहाँ भी भाषिक चमत्कार का सहारा लेते हुए खुसरो ने कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। उन्होंने सौ से अधिक मुकरियाँ रची हैं। अधिकांश मुकरियों का विषय श्रृंगार है। कहीं-कहीं वह बहुत भदेस भी हो गया है। लगता है इस प्रवृत्ति के पीछे मनोरंजन का लक्ष्य रहा होगा। इन मुकरियों की सबसे बड़ी विशेषता सरल भाषा का सहज प्रवाह और लोकरंजन का गुण है। एक मुकरी का उदाहरण देखिए:

द्वारे मोरे खड़ा रहे धूप छाँव सब सर पर सहे
जब देखो मोरी जाए भूख ए सखी साजन, ना सखी रूख
दो-सुखना: खुसरो ने अपनी कविता को भाषा-शिक्षण का माध्यम



भी तो बनाया ही, उन्हें यह भी लगता रहा कि हिंदू-मुस्लिम, ईरान-भारत, फारसी-हिंदवी को निरन्तर निकट लाने की जरूरत है। हिंदी को हिंदवी नाम खुसरो ने ही दिया था। फारसी में सभी भारतीय भाषाओं को हिंदी कहा गया है। भाषाओं को निकट लाने का जो जुनून खुसरो पर सवार था, इसके लिए उन्होंने दो-सुखना का तो सहारा लिया ही, दुनिया में पहली बार फारसी और हिंदुस्तानी दोनों भाषाओं में गजल की भी रचना की। दो-सुखना भाषा-चमत्कार पर आधारित खुसरो द्वारा विकसित की गई ऐसी विधा है, जिसमें एकाधिक प्रश्नों का एक ही शब्द में उत्तर निहित रहता है। यहाँ भी श्लेषालंकार का चमत्कार विद्यमान है। खुसरो ने ऐसे दो-सुखने भी रचे, जिनमें एक प्रश्न फारसी का तथा एक हिंदी का है, पर दोनों का उत्तर एक ही हिंदी शब्द में निहित है। यह खुसरो का कोरा चमत्कार-मोह नहीं है बल्कि यह उनके द्वारा देखे गए उस सपने को पूरा करने का प्रयास है, जो दूर-दूर समझी जाने वाली भाषाओं और संस्कृतियों को निकट लाने का उनका रहा है। उनके हिंदी दो-सुखना का एक उदाहरण है:

खिचड़ी क्यों न पकाई? कबूतरी क्यों न उड़ाई? -- छड़ी न थी।

खुसरो के 'दो सुखना' समझने के लिए आम आदमी की भाषा की जानकारी होनी चाहिए। इस दो सुखना में कबूतरी के संबंध में छड़ी का अर्थ बहुज्ञात है। पर खिचड़ी से उसका संबंध जानने के लिए लोकभाषा का ज्ञान अपेक्षित है। 'छड़ना' क्रिया का अर्थ छड़ी से पीटना होता है। बाजरे की खिचड़ी बनाने के लिए उसके ऊपर का बारीक छिलका उतारना जरूरी होता है। धान या बाजरे की ढेरी को जब छड़ी से पीटा जाता है तो हरियाणवी में उसे 'छड़ना' कहते हैं। बाजरे की ढेरी क्योंकि छड़ी नहीं गई इसलिए खिचड़ी न बन सकी।

अनमेलिया या ढकोसला: ऐसी कविता को जिसमें अर्थ की संगति या मेल नहीं है, अनमेलिया या ढकोसला कहा गया है। इस काव्य-रूप में मनोरंजन-तत्त्व प्रधान है। खुसरो आशु कवि थे। उनके आशु-प्रयोग ही अनमेलिया या ढकोसले के रूप में ख्यात हुए। कहा जाता है कि वे एक बार कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें बहुत प्यास लगी। चलते-चलते उन्हें एक कुआँ मिला जिस पर पनिहारिनें पानी भर रही थीं। प्यास से व्याकुल खुसरो ने पनिहारिनों से पानी माँगा। पनिहारिनों ने खुसरो को पहचान लिया और कविता सुनकर ही पानी पिलाने की शर्त रखी, साथ ही सब ने अपनी-अपनी पसंद के विषयों पर कविता सुनने की फरमाइश की। तब खुसरो ने सबकी फरमाइश का ध्यान रखते हुए तुरंत यह ढकोसला कहा था:

खीर पकाई जतन से और चरखा दिया जलाय
आया कुत्ता खा गया तू बैठी ढोल बजाय
ला पानी पिला

निसबत: निसबत का अर्थ संबंध या बराबरी है। वैसे शुद्ध रूप में इसे काव्य नहीं कह सकते पर इनमें खुसरो के भाषा-ज्ञान का अवश्य पता चलता है। खुसरो द्वारा रचित कुछ निसबतों के उदाहरण इस प्रकार हैं: गोटे और आफ़ताब में क्या निसबत है? - किरन। घोड़े और बजाज में क्या निसबत है? - थान, जीन। कपड़े और दरिया में क्या निसबत है? - पाट।

गजल: 'गजल' अरबी, फारसी और उर्दू की सबसे लोकप्रिय विधा है। गजल का शाब्दिक अर्थ है-- प्रेयसी से बातचीत। खुसरो ने हिंदी की तुलना में फारसी में अधिक गजलें कहीं हैं पर हिंदी और फारसी में सम्मिलित रूप से गजल कहने का उनका यह अद्भुत प्रयोग बहुत चर्चित है:

जे हाले मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराए नैनाँ बनाए बतियाँ
कि ताबे-हिजराँ न दारम ऐ जाँ, न लीहो काहे लगाए छतियाँ
शबाने-हिजराँ दराज वो यूँ जुल्फे रोजे-वस्लत यूँ उम्र को तह
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अंधेरी रतियाँ
चूँ शम्भ सोजाँ चूँ जरी हैराँ, जे मेहरे-आँ मह ब गशतम आखिर
न नींद नैनां न अँग चैना, न आप आवैं न भेजैं पतियाँ

दो संस्कृतियों के बीच पुल बनाने वाले खुसरो का व्यक्तित्व ऐसी चादर बुनने वाला है, जिसका ताना यदि मुस्लिम संस्कृति का है तो बाना हिंदू संस्कृति का और यह आंतरिक संयोजन उनके रक्त में ही है। खुसरो की माँ भारतीय थी और पिता तुर्क। भारतीय होने पर उन्हें गर्व था। उनके हिंदवी से गहरे अनुराग को इसी आधार पर समझा जा सकता है। जनसाधारण से उनका प्रेम उनकी मनुष्यता का परिचायक है। खुसरो ने हिंदवी को वही सम्मान दिया जो अरबी या फारसी को। उनके द्वारा किया गया भारतीय और ईरानी संगीत का समन्वय बहुत बड़ा सांस्कृतिक समन्वय है। इसके दूरगामी परिणाम हुए। उनके बाद आने वाले कवि मुल्ला दाउद ने 'चन्दायन' की रचना से ऐसी सूफी मसनवी का चलन आरंभ किया, जिसकी परंपरा में 'पद्मावत', 'चित्रावली' और 'मृगावती' जैसी कृतियाँ हिंदी में आईं। खुसरो की कविता में भारतीय हिंदू संस्कृति के बिंब भरे पड़े हैं। परवर्ती सूफी आख्यानो पर उन्हीं का प्रभाव है। खुसरो हिंदू उपासना, हिंदू दर्शन और हिंदू जीवन-पद्धति को पूर्ण सम्मान देते थे। जिस भयंकर उथल-पुथल और मार-काट के बीच दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी का भारत गुजरा है, उसमें ऐसी-दृष्टि आलोक-स्तंभ जैसी ही कही जा सकती है। हामिद हुसैन ने लिखा है कि नानक से एक शताब्दी पहले ही निजामुद्दीन औलिया के शिष्य खुसरो ने कहा था कि हिंदुओं की मूर्ति पूजा को हेय-दृष्टि से मत देखो। उनकी पूजा पद्धति से भी कुछ सीखो। खुसरो की दृष्टि सभी संस्कृतियों के प्रति उनके सम्मान-भाव की परिचायक है। खुसरो ने हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का समन्वय तो किया ही, उन्होंने उच्च दरबारी संस्कृति का लोक-संस्कृति से भी समन्वय किया। ऐसा वे स्वयं दरबार और जनसाधारण से जुड़े होने के कारण कर पाए।

खुसरो प्रेम के गायक कवि हैं। उनकी कविताओं में सूफी प्रेम का भावपूर्ण प्रतिबिंबन है। उनके हिंदी गीतों और उर्दू गज़लों में प्रेम की हृद दर्जे की दीवानगी मिलती है। प्रेम का यह खेल हार और जीत दोनों स्थितियों में मिलन में समाप्त होता है। पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो-सुखना जैसे मनोरंजनपरक हलके-फुलके काव्यरूपों को रचने वाले इस कवि के सूफी कलाम में एक अलग ही तस्वीर दिखलाई देती है। यहाँ उनका द्रवित हृदय विद्यमान है। अपने गुरु के प्रति उत्कट रागात्मक समर्पण के कारण वे ऐसे गीतों की रचना करते हैं:

**खुसरो बाजी प्रेम की खेली पिय के संग
जो जीत गए तो पिया मरे जो हारी पी के संग**

ब्रज की चासनी में पगा खुसरो कुछ गीतों में सूर-पूर्व विद्यमान हिंदी कविता की राग-परंपरा का उद्घाटन है। अपनी लौकिकता में तो ये मार्मिक हैं ही, प्रतीक रूप में भी ये अद्भुत हैं। प्रेम के दीवाने कवि मौत को भी उत्सव बना देते हैं। लौकिक विदाई का अलौकिक बिंब मृत्यु ही है। उसे प्रेम का अद्भुत रूप खुसरो ने यों दिया है -

बहोत रही बाबुल घर दुलहन, चल तोरे पी ने बुलाई
बहोत खेल खेली सखियन से, अंत करी लरकाई
बिदा करने को कुटुम्ब सब आए, सगरे लोग लुगाई
चार कहार मिल डोलिया उठाई, संग परोहत और भाई
चले ही बनेगी होत कहा है नैनन नीर बहाई
अन्त बिदा हो चलि है दुल्हन, काहू की कछु न बने आई
मौज खुसी सब देखत रह गए मात पिता और भाई
मोरी कौन संग लगन धराई, धन-धन तेरी है खुदाई
बिन माँगे मेरी मंगनी जो किनी, नेह की मिसरी खाई
एक के नाम की कर दीनी सजनी, पर घर की जो ठहराई
गुण नहीं एक औगन बहोतरे, कैसे नोसा रिझाई
खुसरो चले ससुरारी सजनी, संग नहीं कोई आई।

खुसरो ने अपने प्रेम की पीर को फारसी गज़लों में अति सहज भाव से उतारा है। एक ही कथ्य की इतनी भिन्न-रूपा अभिव्यक्ति विरल होती है। खुसरो की गज़ल में विरह की तड़प है। सहज मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति उनमें हुई है। खुसरो की कविता में उनके समय का हिंदुस्तान तो प्रतिबिंबित है ही, स्वयं उनका प्रेम भरा हृदय



भी उसमें झलक रहा है। हिंदवी उनकी जुबान है। वे कहते हैं: “मैं हिंदुस्तानी की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदवी में पूछो, जिसमें मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।”

चू मन तूति-ए-हिन्दम, अर रास्त पुर्सी।

जि मन हिन्दवी पुर्स, ता नगज गोयम

खुसरो हिंदू-मुस्लिम एकता के अग्रदूत, सांस्कृतिक समन्वय के प्रसारक और सांप्रदायिक सौहार्द के रचयिता हैं। राष्ट्रीयता का भाव उनमें कूट-कूट कर भरा है। हिंदी जुबान और हिंद देश का प्रेमी यह कवि इतिहास के एक नाजुक मोड़ पर आकर नयी राह दिखाता है। जिस समय संस्कृतियाँ, जातियाँ और भाषाएँ एक दूसरे से टकरा रही थीं, उस समय खुसरो ने अपनी कविता से इन्हें एक दूसरे के नजदीक लाने का प्रयास किया। यह दौर आधुनिक भारतीय भाषाओं के निर्माण का था। प्राकृतों एवं अपभ्रंश के तनों से नई भाषाओं के कल्ले फूट रहे थे। दिल्ली उस समय सत्ता का बड़ा केंद्र थी। इसी के निकटवर्ती क्षेत्रों में खड़ी बोली और उर्दू का उदय हुआ। खुसरो ने अपने पूर्वजों से प्राप्त भाषा-संपदा और काव्य-संस्कार से एक ओर समृद्ध काव्य की रचना की, दूसरी ओर समय की नजाकत को पहचान कर खड़ी बोली और उर्दू में साहित्य-रचना कर जन-सामान्य को एक नई दिशा दी। खुसरो ने अपनी रचनाओं में अपने समय की

हलचल तो दर्ज की ही, अपने दिल के बलवले भी उसमें उँडेल दिए। युद्ध के मैदान में तलवार पकड़ने वाले इस कवि ने प्रेम की पीर को भी गाया। निजामुद्दीन औलिया से उन्होंने मानवता का पाठ पढ़ा और हिंदुस्तान की मिट्टी की खुशबू से भी अपनी कविता को महकाया। पनघट, चक्की, शादी, विदाई, ससुराल, नैहर, बाबुल, मढ़ा, सजन, मेहंदी, होली, बसंत, बर्खा, झूला, फागुन, त्योहार, ऋतु जैसे अगणित संदर्भ खुसरो की कविता को हिंदुस्तानी पहचान देते हैं। भारतीय संस्कृति से गहरी अनुरक्ति रखने वाले इस कवि ने कव्वाली का नया रंग सिरजा। कितने ही रागों और तरानों की खोज की। सितार, ढोलक और तबला के आविष्कारक के रूप में भी खुसरो का नाम आता है। तूतीए-हिंद होकर भी वे विश्व के महान् कवि हैं। मनुष्य के इस प्रेमी ने ईश्वर के अनुराग के सुंदर गीत गाए हैं। मनुष्यता से प्रेम उनकी सबसे बड़ी इबादत भी है। खुसरो उस प्रेम के दीवाने कवि हैं, जिसमें ‘यार’ के दर्शन से ही सारी चिंताएँ काफूर हो जाती हैं। वे कहते हैं:

जब यार देखा नैन भर दिल की गयी चिन्ता उतर
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर

यह खुशमिजाज कवि जीवन की गहराइयों को तो शिद्दत से महसूस करता ही है, एक गहन रोमानी अंदाज़ में उदासी को भी मूर्त करता है।

सह प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबाइल : 91 9868140469

छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइके
बात अगम कह दीनी रे मोसे नैना मिलाइके
प्रेम भटी का मदवा पिलाइके
मतवारी कर लीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
गोरी गोरी बईयाँ, हरी हरी चूड़ियाँ
बईयाँ पकड़ हर लीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके

बल बल जाऊँ मैं तोरे रंग रजवा
अपनी सी रंग दीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
खुसरो कन्हैया के बल बल जाए
मोहे सुहागन कीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइके
बात अजब कह दीनी रे मोसे नैना मिलाइके

-अमीर खुसरो

तमिलनाडु में मंदिर संस्कृति का विकास

डॉ. एम. शेषन

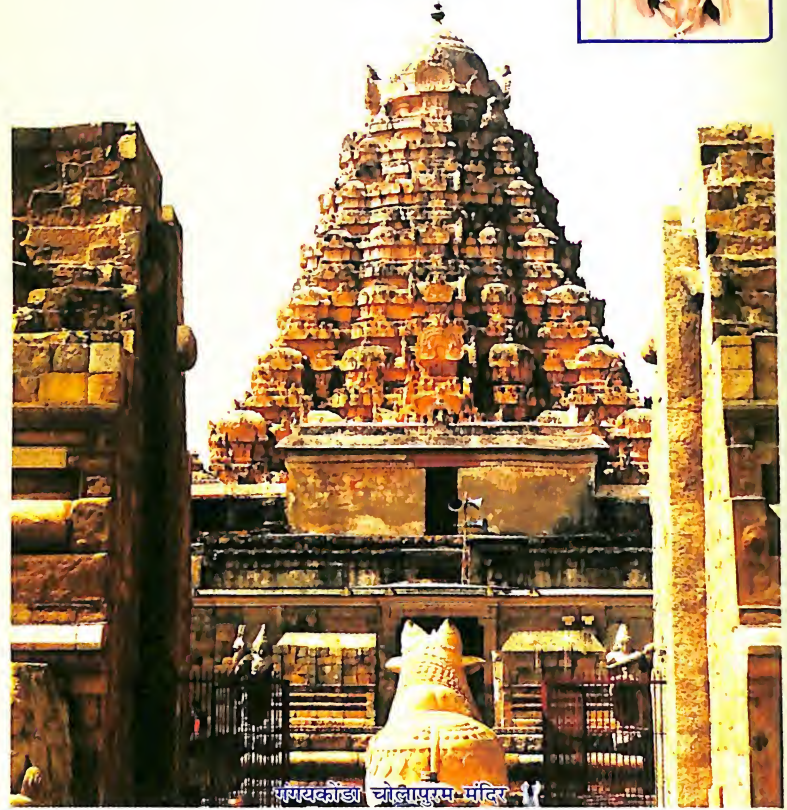


प्राचीन काल से ही तमिलनाडु को दिव्य भूमि के रूप में माना गया है। प्रागैतिहासिक काल से ही यहाँ ईश्वरोपासना प्रचलित थी। सहस्राब्दियों पूर्व ही मानव ने अपनी बुद्धि, शक्ति, क्षमता, कार्यकुशलता से परे एक परमसत्ता के अस्तित्व का अनुभव कर लिया था। उस परमसत्ता को सूचित करने के लिए तमिल में प्रयुक्त शब्द हैं—‘कंदलि’, ‘कडवुल’ और ‘इयवुल’।

तमिल में इच्छा या मोह के लिए ‘कंदु’ शब्द प्रयुक्त है। ‘अलि’ शब्द का अर्थ उसे मिटाना या नष्ट करना या दूर करना है। इस प्रकार इसका शाब्दिक अर्थ है, जो अपनी समस्त इच्छाओं, मोह आदि को मिटा चुका हो और अपने भक्तों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित करता हो। सभी धर्मों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है। तमिल में ‘कडवुल’ और ‘इयवुल’ दोनों ही शब्द इसी अर्थ को सूचित करते हैं। ‘कडवुल’ का अर्थ है—भौतिक विश्व की सीमा से परे तथा ‘इयवुल’ का अर्थ है—सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान जो इस पृथ्वी की सभी वस्तुओं पर अंकुश रखने वाला हो। इस प्रकार तमिलों ने ईश्वर एवं परमसत्ता के मोहपाश रहित होने की कल्पना की है। फिर भी ‘अणोरणीयान्’ तथा ‘महतो महीयान्’ के रूप में परमसत्ता अपने को व्यक्त करती है तथा सभी जीवित प्राणियों की प्राणसत्ता भी वही है।

ईश्वर सत्ता के बारे में मानव के अभिज्ञान के साथ-साथ उसकी उपासना की परंपरा भी चली आई होगी। ईसा के जन्म के एक सहस्र वर्ष पूर्व रचे गए तमिल के प्राचीनतम तथा प्रथम लक्षण ग्रंथ के रूप में समादृत ‘तोलकाप्पियम्’ उस परम सत्ता की उपासना के मार्गों का उल्लेख करता है। यह देखा गया कि तमिलनाडु में ईश्वर वंदना और उपासना की पद्धतियों में समय-समय पर परिवर्तन होते आए हैं।

ईश्वरोपासना की तीन प्रमुख पद्धतियाँ मानी गई हैं—‘ऊरुव वलिपाडु’ (सगुणोपासना), ‘अरुव वलिपाडु’ (निर्गुणोपासना) और ‘अरुव ऊरुव वलिपाडु’ (भावोपासना)। इनमें से सगुणोपासना या मूर्ति पूजा अन्य दो उपासना पद्धतियों की अपेक्षा बहुत बाद की मानी जाती है।



ईश्वरोपासना की तीन प्रमुख पद्धतियाँ मानी गई हैं—‘ऊरुव वलिपाडु’ (सगुणोपासना), ‘अरुव वलिपाडु’ (निर्गुणोपासना) और ‘अरुव ऊरुव वलिपाडु’ (भावोपासना)। इनमें से सगुणोपासना या मूर्ति पूजा अन्य दो उपासना पद्धतियों की अपेक्षा बहुत बाद की मानी जाती है।

दो सहस्र वर्ष पूर्व रचित प्राचीन तमिल साहित्य जिसे ‘संगम् साहित्य’ के नाम से अभिहित किया गया है, उसमें मंदिरों में कहीं भी मूर्ति या देवता की उपासना का उल्लेख नहीं है, लेकिन दूसरी शताब्दी के प्रबंध काव्य ‘शिलप्पदिकारम्’ तथा ‘मणिमेखलै’ में देवी देवताओं के मंदिरों का उल्लेख मिलता है। तमिलनाडु में बहुदेवोपासना का प्रचलन और मानव कल्पना के अनुकूल देवी या देवता के लिए अलग-अलग मूर्तियाँ तथा उनके लिए अलग-अलग मंदिरों का भी उल्लेख इन काव्य ग्रंथों में है।

इस प्रकार संगमकालीन प्राचीन तमिल लोग ईश्वर को एक अरूप ईश्वरीय सत्ता के रूप में मानकर उपासना करते थे। इसी उपासना पद्धति को तमिल में ‘अरुव वलिपाडु’ कहते हैं। दूसरी उपासना

पद्धति को उरुव वलिपाडु कहा जाता है और तीसरी उपासना पद्धति अन्य दो उपासना मार्गों के बीच तालमेल बैठाती है। अरुव उरुव वलिपाडु लिंगोपासना पद्धति है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि लिंगोपासना सगुणोपासना में स्वीकृत है या नहीं। ऐसा माना जाता है कि प्रागैतिहासिक काल से ही लिंगोपासना रही है। सर जॉन मार्शल तथा अन्य इतिहासकारों की मान्यता यही रही कि यह लिंगोपासना पद्धति निश्चित रूप से हिंदू घाटी सभ्यता का सूचक है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री पी. टी. श्रीनिवास अय्यंगार ने अपनी पुस्तक 'भारत में प्रस्तर युग' में उल्लेख किया है कि "लिंगोपासना पद्धति प्राचीन तमिल प्रदेश से शुरू हुई होगी, क्योंकि यह प्राचीन प्रस्तर युग में भी रही होगी। प्राचीन तमिल प्रदेश में लोग पहले ईश्वर को एक अदृश्य परमसत्ता के रूप में मानकर उपासना करते होंगे, बाद में लिंगोपासना की पद्धति आई होगी, तत्पश्चात् अनेक मूर्तियों की पूजा तथा बहुदेवोपासना की पद्धति विभिन्न रूपों में मंदिरों में प्रचलित रही होगी।"

तमिलनाडु के इतिहास लेखकों ने मूर्ति पूजा के इतिहास का पता लगाने का प्रयास किया है। प्राचीन युग में बड़ी वीरता और साहस के साथ युद्धभूमि में लड़कर जो व्यक्ति वीरगति को प्राप्त होता था, उस वीर पुरुष के सम्मान और स्मृति में पत्थर गाड़कर गाँवों में उसकी पूजा करने की प्रथा का प्रचलन रहा, जिसे तमिल में 'वीर वलिपाडु' कहा जाता है। उस सुदूर पूर्व युग में वीरता को सर्वोच्च गुण के रूप में मान्यता प्राप्त थी और उन वीरों को देवतातुल्य मानने की प्रथा चल पड़ी। अतः गाँवों में पत्थर गाड़कर उसकी पूजा की जाती थी, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उन पत्थरों में उन वीरों का देवत्व निहित था। तमिल में इसे 'नडुकल' कहा जाता है।

मूर्ति पूजा के उद्गम के बारे में संगम साहित्य के 'पुरनानूरु' काव्य में कहा गया है:



बैकुंठ पेरुमल मंदिर



तंजाई पेरिया कोविल

'ओन्ना तेवर मुन् निन्ऱु विळंगी

ओलिरन्दु मरुप्पिन् कलिरु एरिन्दु विलियुतेन्

कल्ली पराविन् अल्लवु

नेलु कुत्तु परवुम् कडवुलुम् इलवे' (पुरम् 335)

इसी प्रकार अपने नेक व्यवहार, सच्चरित्र, शुचिता और पतिव्रत के लिए प्रसिद्ध नारियाँ भी मृत्यु के पश्चात् मूर्तियों के रूप में पूजी जाती थीं। आज भी तमिलनाडु के परिवारों या कुनबों में ऐसी पतिव्रता नारियों की पूजा होती है। कण्णकि की पूजा देवी के रूप में न केवल तमिलनाडु और केरल में बल्कि श्रीलंका में भी की जाती है। चेरन् चेंगुट्टुवन ने देवी कण्णकि के सम्मान में एक मंदिर का निर्माण करवाया था। हिमालय से लाए गए प्रस्तर खंड से कण्णकि की प्रतिमा बनवाई गई थी। उस मंदिर में कण्णकि की प्रतिमा की स्थापना के शुभ अवसर पर अनेक राजा, महाराजा दर्शनार्थ एकत्रित हुए थे। उस मंदिर के उत्सव के अवसर पर उत्तर भारत से मालवा नरेश, श्रीलंका से राजा गजबाहु, कुडगु राज्य से भी राजा तथा अन्य अनेक राजवंशों के प्रमुख लोग एकत्रित हुए थे। इन सबका उल्लेख तमिल काव्य 'शिलप्पदिकारम्' महाकाव्य में है।

इस प्रकार वीर पुरुष तथा नारियाँ प्रस्तर मूर्तियों के माध्यम से पूजे जाने लगे। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि मृत व्यक्तियों की पूजा की प्रथा शनैः-शनैः देवी-देवताओं की पूजा के रूप में मूर्ति पूजा का रूप धारण कर चुकी होगी और बाद में प्रस्तर खंड से विविध प्रकार की मूर्तियाँ गढ़ने तथा उन्हें मंदिरों में स्थापित करने की प्रथा विकसित हुई होगी। ये मंदिर शनैः शनैः धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यकलापों के केंद्र के रूप में विकसित हुए होंगे, जो परवर्ती काल में हमारी संस्कृति और कलाओं के स्थायी स्मारकों का भव्य रूप धारण कर चुके होंगे।

तमिलनाडु के सहस्राधिक मंदिरों में शिव और विष्णु के मंदिर ही अधिक संख्या में पाए जाते हैं। उनमें भी शिवजी के मंदिर संख्या में अधिक है। ऐसी अनुश्रुति है कि शिवजी के 1008 मंदिर निर्मित हैं, इनमें से कुछ मंदिर तमिलनाडु के बाहर भी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ जैन, बौद्ध मंदिर भी हैं।

भगवान विष्णु की उपासना केवल मूर्तियों द्वारा ही की जाती है। विष्णु के दस अवतारों-विशेषकर, राम और कृष्ण की मूर्तियों की उपासना बहुप्रचलित है। शिव मंदिरों में गर्भगृह के अंदर मूल विग्रह या प्रधान मूर्ति शिवलिंग ही है। इसके अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी वहाँ स्थापित होती हैं। ये सब मूर्तियाँ प्रस्तर खंडों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ हैं।

तमिलनाडु के मंदिरों में पंचधातुओं से बनाई गई मूर्तियाँ भी हैं, जिन्हें मंदिरों में उत्सव पर्व के अवसर पर नगर शोभा यात्रा के रूप में बाहर परिक्रमा में ले जाते हैं। इन विभिन्न अर्चावतार मूर्तियों की स्तुति में अनेकानेक कवियों ने हजारों की संख्या में गीत गाए हैं, कविताएं रची हैं। शिवभक्तों को 'नायनमार' कहा जाता है जबकि विष्णुभक्तों को 'आलवार' कहा जाता है। इन दोनों वर्गों के कवियों द्वारा गाए गए स्तुति-गीत भक्ति के हृदय उद्गार हैं, जिनमें काव्य के उत्तमगुण समाहित हैं। ये भक्त कवि तमिलनाडु में तीसरी शताब्दी तथा दसवीं शताब्दी के मध्य रहे। इनके स्रोत गीतों में छोटे-छोटे मंदिर भी अमरकीर्ति प्राप्त कर परवर्ती काल में तमिलनाडु के राजा, महाराजा, सामंतों और क्षेत्रपतियों के प्रयासों से भव्य मंदिरों के रूप में पुनर्निर्मित किए गए हैं।

तमिलनाडु के मंदिरों के इतिहास के संबंध में एक रोचक सिद्धांत प्रचलित है कि प्राचीनकाल में गाँव की आवश्यकताओं एवं ग्रामीण जनता की शिकायतों की सुनवाई के निमित्त ग्रामीण जनता की पंचायत एक निर्दिष्ट स्थान पर एकत्रित होती थी। ऐसी भीड़ अपराधियों को दंडित करने के लिए न्यायालय का रूप भी धारण कर लेती थी। अक्सर ये सभाएं किसी बड़े वृक्ष के तले हुआ करती थीं। इन वृक्षों की छाँह तले गाँव के सज्जन एवं चरित्रवान व्यक्ति मिलकर अपना निर्णय सुनाया करते थे। ग्रामीण जनता भी ऐसे स्थलों को एक पुनीत स्थल के रूप में मानने लगी थी। उन लोगों की मान्यता थी कि भगवान स्वयं वहाँ आविर्भूत होकर उन्हें शांतिपूर्ण एवं सुखी जीवन बिताने में मार्गदर्शन देते हैं। स्वभावतः वहाँ कोई भी व्यक्ति न असत्य भाषण करने का साहस कर सकता था और न ही कोई अपराधपूर्ण विचार मन में रख सकता था। उनका संकल्प और विश्वास था कि गाँव के सज्जन और सद्चरित्र लोग गाँव वासियों को सही न्याय अवश्य प्रदान करेंगे। इस प्रकार तरु तले ईश्वर के सान्निध्य में न्याय प्रदान किया जाता था। स्वाभाविक था कि यह तरु तथा उसके आस-पास का स्थान गाँव के एक पुनीत स्थल के रूप में



माना जाने लगा। बरगद, पीपल और नीम के पेड़ अति पवित्र पेड़ों के रूप में माने जाने लगे और आज भी तमिलनाडु की ग्रामीण जनता इन वृक्षों की विशेष पूजा करती पाई जाती है। धीरे-धीरे इन पवित्र तरु तले देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, नाग (सर्प), युगल मूर्तियाँ स्थापित होने लगीं। मध्य युग में भी जनता का यह विश्वास बढ़ता गया कि ईश्वर मंदिरों की अपेक्षा इन पवित्र वृक्षों के नीचे रहना अधिक पसंद करते हैं। तीसरे संगम काल के पश्चात् अर्थात् ई. सन् दूसरी-तीसरी शताब्दियों में शिलप्पदिकारम् जैसे प्रबंध काव्यों की रचना होने लगी। उस युग में ईंट और गारे से इन पवित्र वृक्षों के इर्द-गिर्द मंदिरों का निर्माण होने लगा।

तमिलनाडु के इतिहास की दूसरी तथा पाँचवीं शताब्दी को एक प्रकार से अंधकारमय युग माना जाता है। इन शताब्दियों में तमिलों के सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की उथल-पुथल होने लगी। खासकर, धार्मिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के परिवर्तनों से होकर यह प्रदेश अवश्य गुजरा है। ई. सन् प्रथम शताब्दी के अंत में धर्म के क्षेत्र में शैव एवं वैष्णव संप्रदाय के बारे में हमें मालूम होने लगा। अगली कुछ शताब्दियों में बौद्ध एवं जैन धर्म ने इस प्रदेश में अपना प्रभाव डाला था। यहाँ के अनेक शासकों ने इन धर्मों को पोषित और प्रोत्साहित किया और अपने ढंग से उनका विकास होता रहा। बौद्ध एवं जैन धर्मों के अत्यधिक प्रभाव को कम करने के निमित्त

तत्कालीन शासकों, राजा-महाराजाओं ने बड़े ही उत्साह से मंदिरों का निर्माण करना शुरू किया। इसी समय प्रसिद्ध 'चिदम्बरम्' में जिसे 'आकाश स्थल' कहा जाता है, बहुत बड़ा मंदिर निर्मित किया गया। चेंकणगान् नामक चोल राजा ने अपने शासन काल में सत्तर से भी अधिक मंदिरों का निर्माण करवाया। अन्य अनेक शासकों एवं सेनापतियों ने भी अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। ये सारे मंदिर ईंटों से बनवाए गए थे।

सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में पल्लव वंश बहुत प्रभावी शासक के रूप में उभरकर आया। शैव और वैष्णव मतावलंबियों ने अत्यधिक उत्साह और जोश के साथ धर्म की सेवा की, जिससे जैन धर्म का प्रभाव बहुत कुछ घट गया। बौद्ध धर्म का प्रभाव तो इससे पूर्व ही घट चुका था। तमिल प्रदेश में बौद्ध धर्म अपने पैर न जमा सका। ये सबके सब शैव भक्त नायनमार एवं वैष्णव भक्त आलवार दूर-दूर तक पैदल यात्रा कर मंदिरों में जाकर अपने स्तोत्र गीतों द्वारा धर्म का प्रचार बड़ी तीव्रता से करने लगे। कहा जाता है कि जनता में विश्वास पैदा करने के निमित्त इन भक्तों ने अनेक प्रकार के चमत्कार भी दिखाए। इन भक्त कवियों ने स्तोत्र गीतों का विधिवत् संकलन किया जो बाद में 'तेवारम्' और 'दिव्य प्रबंधम्' के नाम से प्रचलित हुए। ये दोनों ही भक्ति ग्रंथ आज धार्मिक साहित्य के महान ग्रंथों के रूप में समादृत हैं।

पल्लव शासकों ने बहुत बड़ी संख्या में मंदिरों का निर्माण करवाया। प्रारंभ में इन शासकों ने गुफा मंदिरों और पहाड़ी पर शिल्पकला कौशल को प्रदर्शित किया। उनकी सौंदर्यानुभूति और भक्तिपूर्ण प्रयास दोनों ने पहाड़ों पर अद्भुत करिश्मे कर दिखाए। तत्पश्चात् पहाड़ों को छोड़कर समतल भूमि पर मंदिर निर्माण शुरू किया गया। इनमें भी पत्थरों का बहुत प्रयोग किया गया। सातवीं शताब्दी के अंतिम दशक में कांचीपुरम् के निकट 'कूरम्' नामक स्थान पर पहला प्रस्तर मंदिर परमेश्वर पल्लवन् ने बनवाया था। कालांतर में पल्लवों ने कैलाशनाथ मंदिर और बैकुंठ पेरुमाल मंदिरों का निर्माण करवाया। ये दोनों ही मंदिर प्रस्तर मंदिरों में अपनी सुंदरता और कलाकृतियों के लिए विशेष महत्व रखते हैं।

सातवीं, आठवीं और नौवीं शताब्दियों से वैष्णव आलवार एवं शैव नायनमार भक्तों के स्तोत्र गीतों में इन सब मंदिरों और स्थानों का बार-बार उल्लेख हुआ है। बाद में ये स्थल भक्तों एवं यात्रियों के लिए पवित्र एवं दर्शनीय स्थल बन गए। इन भक्तों द्वारा उनके गीतों में उल्लिखित ये पवित्र स्थल परवर्ती युगों में 'पाडल पेट्र स्थलम्' (संतों, भक्तों द्वारा संकीर्तित पवित्र स्थल) के नाम से लोकप्रिय हुए। परवर्ती काल में पाण्ड्य राजाओं तथा धनाढ्य शैव भक्तों ने प्रख्यात प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया। इन मंदिरों में तंजाऊर का तंजै पेरिय कोयिल (बृहदीश्वर मंदिर), गंगै कोण्ड चोलपुरम्,



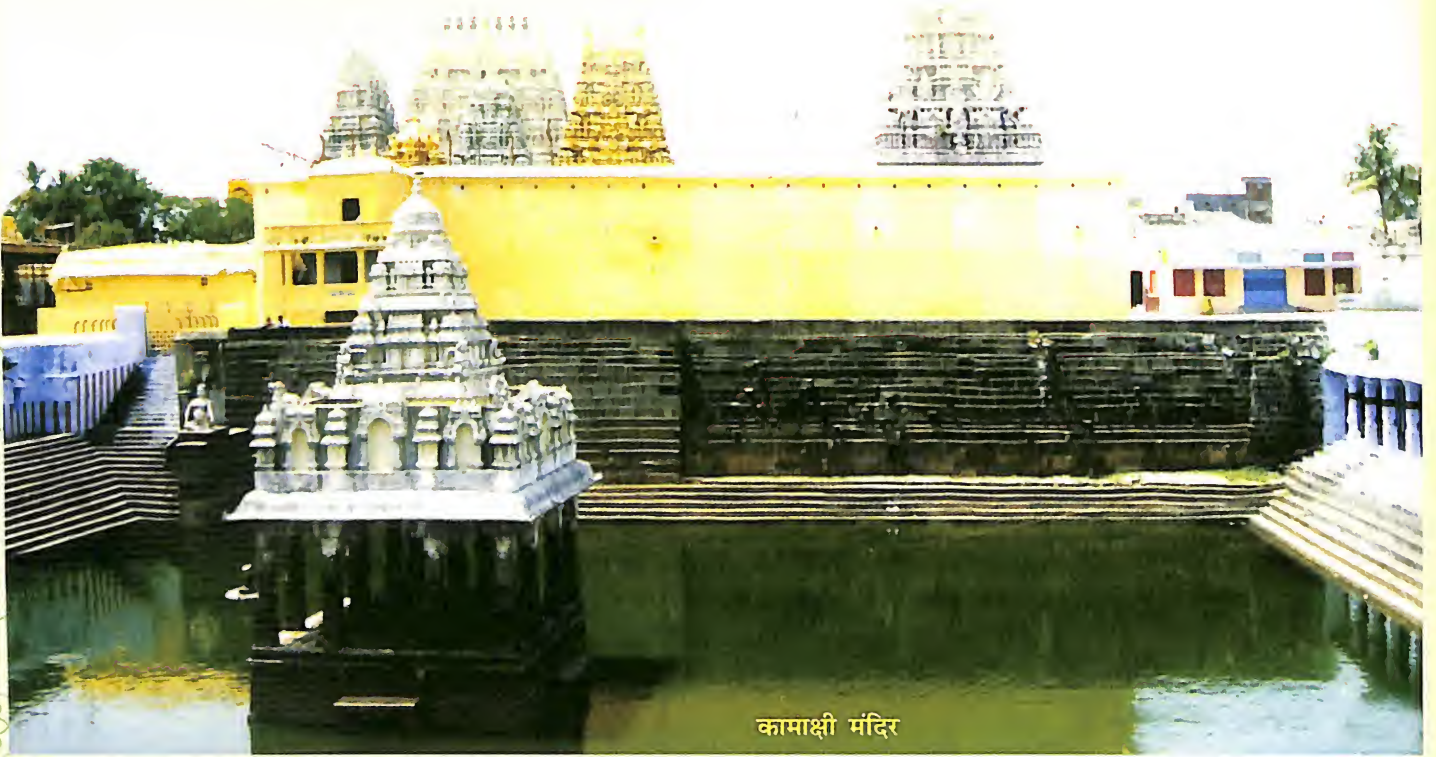
कैलाशनाथ मंदिर

मुरुगन (कार्तिकेय) मंदिरों में तिरुत्तणि, पलनी, तिरुचेंदूर आदि प्रमुख हैं।

तमिलनाडु में एक ही मंदिर में शिवजी और विष्णुजी की पूजा होती है। चिदंबरम् मंदिर इसका सुंदर उदाहरण है। इस प्राचीन मंदिर में नटराज एवं गोविंदराज दोनों की भव्य मूर्तियाँ मंदिर में स्थापित हुईं। इस प्रकार के अनेक मंदिर तमिलनाडु में हैं जहाँ दोनों मूर्तियों की पूजा एक ही मंदिर में होती है। मध्य युग में शैव और वैष्णवों के बीच किसी प्रकार की कटुता या वैमनस्य का भाव नहीं था।

तमिलनाडु के मंदिरों के विकास के इतिहास में चोल और पाण्ड्य राजाओं के अतिरिक्त विजय नगर साम्राज्य (16वीं शती) का भी बहुत बड़ा योगदान रहा। उत्तर भारत से आए इस्लाम धर्म के हमले को रोकने में विजय नगर साम्राज्य का बड़ा हाथ रहा। इन शासकों ने बड़े उत्साह और बड़ी तीव्रता के साथ इस्लाम धर्म को दक्षिण के अंदर प्रवेश करने से रोकने का जबरदस्त प्रयास किया था। उन्होंने अनेक हिंदू मंदिरों का पुनरुद्धार करके उनके विकास के लिए भूमि संपत्ति देवस्व दान में दिए। तमिलनाडु के मंदिरों के विशाल प्राकार और मंदिर की चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी करने में परवर्ती चोल राजाओं का उत्साह देखने लायक था। काल के प्रभाव से इन मंदिरों के पुराने शिलालेखों को बचाया नहीं जा सका। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण इन शिलालेखों तथा इतिहास प्रसिद्ध अद्भुत स्थलों की सुरक्षा एवं विकास के निमित्त अद्भुत कार्य कर रहा है।

तमिलनाडु के मंदिर केवल उपासना और भक्ति के स्थल नहीं रहे। ये मंदिर सभी प्रकार की ललित कलाओं के विकास और संवर्धन के मुख्य केंद्र बने। साहित्य, संगीत, नृत्य, शिल्पकला, चित्रकला, नाटक आदि संस्कृति के विभिन्न तत्वों का बखूबी विकास इन मंदिरों के माध्यम से होता रहा। तमिल का तेवारम् भक्ति गीत, दिव्य प्रबंधम् का पाठ, वेदों का नित्यपाठ आदि इन मंदिरों में अटूट चलता रहा है। इसकी एक लंबी परंपरा मानी जाती है। तमिलनाडु का जन-जीवन



कामाक्षी मंदिर

इन्हीं मंदिरों के इर्द-गिर्द विकसित और पनपता आया है। तमिलों की भावनाओं और संस्कृति की खूबियों को ये मंदिर प्रतिफलित करते रहे हैं। तमिलों के नित्य प्रति जीवन के कार्यकलापों से इन मंदिरों का अभिन्न संबंध रहा है। इन्हीं कारणों से हर गाँव और शहर में मंदिरों का होना आवश्यक माना गया है। तमिल में यह उक्ति प्रचलित है कि 'कोयिल इल्ला ऊरिल इरुक्क वेंडाम्' अर्थात् जहाँ मंदिर न हो वहाँ निवास न करें।

तमिलनाडु के नीलगिरी जिले को छोड़कर अन्य सभी जिलों में मंदिर हैं। इनमें से अनेक मंदिर तेवारम् गीतों में या दिव्य प्रबंधम गीतों में स्थान पा चुके हैं। अनेक मंदिरों में आगम पद्धति (शिवागम वैष्णव बैखानस, पांचरात्र आदि) से पूजा का विधि-विधान नियमित रूप से होता आ रहा है। इन मंदिरों में तेवारम् या दिव्य प्रबंधम गीतों के नित्यगान की भी व्यवस्था की गई है। तमिलों के जीवन में ये मंदिर बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। तमिलनाडु में यह आम विश्वास है कि यहाँ के मंदिर के पत्थर भी गीत गाया करते हैं। यहाँ के मंदिरों

के अद्भुत चित्र, कलाकृतियाँ, मूर्तियाँ, शिलालेख, ताम्रपट्ट आदि हमें अद्भुत जानकारी और विवरण प्रदान करते हैं। इनमें रुचि रखने वालों के लिए तो ये मंदिर अद्भुत कोषागार हैं। भारत में ही नहीं, विश्वभर में ये मंदिर अपना सानी नहीं रखते।

तमिलनाडु के मंदिरों के विकास क्रम के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ के जनजीवन और लोकसंस्कृति से उनका अभिन्न संबंध रहा है। आज के इस वैज्ञानिक युग में भी हमारे यहाँ के लोग अपने पूर्वजों द्वारा चलाई गई इस परंपरा का पालन करते आ रहे हैं। व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता, सदाचार एवं सद्विचार आदि सांस्कृतिक गुणों का विकास जब तक अच्छी तरह से नहीं होगा, तब तक समाज की सच्ची प्रगति संभव नहीं है। इन सबके लिए मंदिर संस्कृति का शुद्ध मन से पालन करना व्यक्ति, परिवार, कुल, समाज, शासन, सत्ता एवं राष्ट्र के कल्याण के निमित्त अत्यावश्यक है।

'गुरुकृपा' प्लॉट नं. 790,
डॉ. रामस्वामी सालै,
के.के.नगर, चेन्नई-600078
मो. : 09444763055

आंध्र नाट्य

बुक्कूर वेंकट राव



ललित कलाओं में नाट्य कला एक पूर्ण कला है क्योंकि यह साहित्य, संगीत, शिल्प और चित्रकला का सम्मिलित रूप है। साहित्यकारों का मन लुभाने वाली कविता, समस्त प्रकृति को तादात्म्य में डुबोने वाला संगीत, चित्रों की शोभा, शिल्प की भंगिमाएं नाट्य में प्रदर्शित होती हैं। समस्त कलाओं के विज्ञान और विनोद को नाट्यकला अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

किसी जाति की संस्कृति और संप्रदाय ललित कलाओं द्वारा व्यक्त होते हैं। भारत में ललित कलाएं, कविता, चित्रलेखन, शिल्प, संगीत और नाट्य अपनी-अपनी भाषाओं में विकसित हुए हैं। ओडिसी, मणिपुरी, कथकली, बांग्र, आदि नाट्य अपने-अपने राज्य की संस्कृति और संप्रदाय के प्रतीक हैं। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो सन् 1950 तक आंध्र प्रदेश के लिए कोई नाट्य शैली नहीं थी। जिस नाट्य कला को सन् 1955 में हाई कोर्ट में आंध्र के 'एक विशिष्ट विलक्षण नाट्य प्रक्रिया' के रूप में साबित किया गया था, उस नाट्य कला को सन् 1970 में 'इटालियन ऑफ ईस्ट' के रूप में आंध्र प्रदेश के सुप्रसिद्ध नाट्य गुरु और नाट्य विज्ञान सर्वस्व (एनसाइक्लोपीडिया) के रूप में विख्यात डॉ. नटराज रामकृष्ण जी के अथक परिश्रम से

'आंध्र नाट्य' का नाम दिया गया। इसका नामकरण करने वालों में भारत कला प्रपूर्ण श्रीमती अन्नाबत्तुला बुलि वेंकटरत्नम, श्रीमती चिन्ता चिनगनि राजु, श्रीमती सरिदे माणिक्यम आदि प्रमुख नृत्य कलाकार हैं।

आंध्र प्रदेश में नाट्य कला के दो रूप प्रचलित हैं—'नट्टुव मेलम' और 'नाट्य मेलम'। नट्टुव मेलम केवल स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला शास्त्रीय नृत्य है। यह एक पात्र केलिक है। इसमें लास्य संप्रदाय की दो पद्धतियाँ 'मार्ग' और 'देशी' हैं। पुरुषों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली नाट्य शैली को नाट्य मेलम कहा जाता है। रामायण, महाभारत, महाभागवत और पुराणों की कहानियों को लेकर नाटक के रूप में प्रदर्शित की जाने वाली नाट्य शैली नाट्य मेलम है। इसमें

बहु पात्र होते हैं। आज इस नाट्य मेलम को 'कुचिपुडि' नाम से जाना जाता है। इन दोनों नाट्य शैलियों के अलावा 'पेरिणि शिवतांडवम' नामक एक अन्य नाट्य शैली भी है। यह केवल पुरुषों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। सभी नृत्योत्सवों में प्रथम गौरव पाने वाले डॉ. नटराज रामकृष्ण जी का कहना है कि 'ये तीनों नाट्य शैलियाँ भगवान शिव के तीन नेत्र हैं। दायीं नेत्र 'कुचिपुडि' बायीं नेत्र 'आंध्र नाट्य' और ललाट नेत्र 'पेरिणि शिवतांडवम्' है।'



पद्मश्री नटराज रामकृष्ण

मंदिर हिंदू संस्कृति का प्रतीक और ललित कलाओं का जन्म स्थान हैं। भगवान की आराधना पद्धति में नृत्य कब शामिल हुआ, बताना कठिन है। आंध्र लास्य नृत्य की तीन शैलियाँ 'आराधना नृत्यम' (मंदिर नृत्य शैली), 'अस्थाना नृत्यम' (दरबार नृत्य शैली) और 'प्रबंध नृत्यम' (विनोद नृत्य शैली) हैं। इन तीनों शैलियों का सम्मिलन ही आंध्र नाट्य है। अमरावती बौद्ध स्तूपों की स्त्री मूर्तियों की नृत्य भंगिमाओं को देखने से पता चलता है कि आंध्र प्रदेश में लास्य नृत्य शैली ई.पू. 200 में विकसित हुई थी। सातवाहन शासन काल के ग्रंथ 'गाथासप्तशति' में नर्तकी के अलंकारों का वर्णन देखा जा सकता है। तेलुगु साहित्य के आदि कवि नन्नय विरचित महाभारत में लास्य नृत्य शैली का वर्णन प्राप्त होता है। इस महाकवि के अलावा तिव्कन सोमयाजी, ऐराप्रगड, श्रीनाथ महाकवि आदि ने भी अपने काव्य ग्रंथों में 'लास्य नृत्य शैली' का वर्णन किया है। इन वर्णनों में स्त्री के लास्य नृत्य की 'मार्गी और देशी' पद्धतियाँ, नाट्य शास्त्र में 'चारि रेचक करणांगहार' शैलियाँ, देवगणिक, राजनर्तकियों की नृत्य विशेषताएं, सभ संप्रदाय का विवरण उपलब्ध होता है।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मंदिरों में नृत्य कला विद्यमान थी। यह नृत्यकला सम्पूर्ण आगम शास्त्र के अनुसार प्रस्तुत की जाती थी। उत्सवों के समय पूजा क्रिया में किया जाने वाला नृत्य नवसंधि था। आगम शास्त्र के अनुसार किया जाने वाला नृत्य होने के कारण इसे आगम नृत्य कहा जाता है। वैखानस



आगम में महर्षि मारीच ने नवार्चन पद्धतियों का उल्लेख किया था। जिस सेवा के साथ नृत्य नहीं होता वह सेवा अधम सेवा कही गई थी। आगम तीन प्रकार के माने गए हैं। शैवागम, वैष्णवागम और शाक्तेयागम- ये आगम वेदों का सार कहे गए हैं।

मंदिर शैली : प्राचीन काल में प्रति दिन प्रातः काल भगवान को गीतों के द्वारा जगाया जाता था और रात में उन्हें मूलविराट में सुलाकर अष्ट दिक्पालकों को सौंपकर ही मंदिर का द्वार बंद कर दिया जाता था। इसे 'प्रहरी' कहा जाता है। इस अवसर पर किए जाने वाले नृत्य को 'प्रहरी नृत्य' कहते हैं।

उत्सवों के समय उत्सव बिना विघ्न- बाधा सम्पन्न होने के लिए अष्ट दिक्पालकों का आह्वान करके उनका अतिथि सत्कार किया जाता था। इसे 'नवसंधि' या 'बलहरण' कहा जाता है। नवसंधि नृत्यों को पहले-पहल ब्रह्मस्थान में और बाद में इंद्रस्थान (ध्वज स्थान) में किया जाता था। इंद्रस्थान के सामने नर्तकी अपनी अंजली में फूल लेकर समस्थान पर खड़ी होती थी। पूजा पद्धति के अनुसार आवाहन, सिंहासन, स्नान आदि षोडशोपचार के बाद देवयाज्ञिक

आंध्र प्रदेश में नाट्य कला के दो रूप प्रचलित हैं- 'नट्टुव मेलम' और 'नाट्य मेलम'। नट्टुव मेलम केवल स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला शास्त्रीय नृत्य है। यह एक पात्र केलिक है। इसमें लास्य संप्रदाय की दो पद्धतियाँ 'मार्ग' और 'देशी' हैं। पुरुषों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली नाट्य शैली को नाट्य मेलम कहा जाता है।

स्तोत्र का उच्चारण किया जाता था।

'ऐतदिन्द्र गद्य प्रियः देवगान्धार रागप्रियः

समताल प्रियः मेघनाथ वाद्य प्रियः'

ललित नृत्य प्रियः तत्काल गीतानुसार प्रियश्चा।

स्तोत्र पूरा होने के बाद वीणा पर देवगांधार राग बजाया जाता था। तदनंतर नर्तकी फूलों को समर्पित करके निम्नांकित पंक्तियों पर ताल गति दिखाकर नृत्य करती थी।

'सकल सुरवर मकुट मणिघृणि जृमि तान्त्रि सरोरूहम

दनुज निरसन विबुध जयकर वज्रपाणि शचिपतिम

रजित गिरि रथ विलसदति स्थित हस्तिमस्तक निष्ठितम

कवित करहित पटह झटि कृत मिन्द्र तालमिदम महत।'

बाद में समताल में ललित नृत्य प्रदर्शन करके समापन करती थी। तत्पश्चात आग्नेय नैऋत्य आदि दिशाओं में नर्तकी आगम के अनुसार नाचकर देवताओं की आराधना करती थी। मंदिर नृत्य सम्प्रदाय में कुम्भ आरती, पुष्पांजली, विनायक कौतम, कैवारम, शाम को नंदि आरती, गरुड़ आरती, पंच आरती, नक्षत्र आरती आदि के नृत्य किए जाते थे। इन नृत्यों को करने के लिए ऐसी योग्य नर्तकियों की जरूरत होती थी जो भरतमुनि के संगीत और व्याकरण शास्त्र, पंच काव्यों के अध्ययन और संस्कृतांध्र भाषाओं में निपुण हों। ऐसी योग्य देवगणिकाओं पर शिवमंदिर में पुष्प-मुद्रा और विष्णुमंदिर में शंख, चक्र मुद्राएं अंकित की जाती थीं। मुद्रांकित देवगणिकाएं ही मंदिर में आराधना नृत्य करने के योग्य होती थीं। यह नाट्य आराधना विश्व के अण्ड, पिण्ड और ब्रम्हाण्ड की शक्तियों को संतुष्ट करने के लिए की जाती थी। जैसे वेदकाल में मानव ने वरुण, इंद्र, अग्नि आदि देवताओं की पूजा की थी, वैसे ही मंदिरों में उत्सवों के समय सारे देवी-देवताओं का आह्वान करके उनकी आराधना गीत, संगीत और नृत्य के द्वारा की जाती थी ताकि भगवान के कल्याणोत्सव में कोई प्राकृतिक विघ्न न आने पाए।

दरबारी शैली : यह नाट्य भगवान की आराधना में एक अंश के रूप में शुरू करके मूल विराट के सामने, बलिपीठ पर, नव संधियों में, प्रहरी के चारों ओर भक्ति से, पवित्र रूप में, निष्ठा से किया जाता था। मंदिर में किया गया नृत्य तदनंतर राजाओं और पंडितों के लिए मंदिर के कल्याण मंडप में किया गया। बाद में यह राजाओं के राज दरबार तक पहुंच गया। राज दरबार में केलिका नृत्य में आलापन, शब्द, जतिस्वर, वर्ण, पद, पदवर्ण, जावली, श्लोक, पद्य, तिल्लानाओं का प्रदर्शन किया जाता था। इस नाट्य का पोषण अनेक राजाओं ने किया।



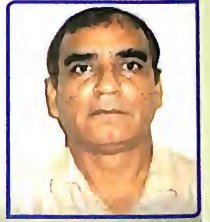
विनोद शैली : राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण समाज में आए अनेक परिवर्तनों के कारण आंध्र के लास्य नर्तन में भी परिवर्तन आया। यह परिवर्तन मंदिरों से राज दरबार में गया और वहाँ से समाज में आ गया। जिन धनवानों ने उस नाट्य का पोषण किया था, उनके यहां भी यह नृत्य मनोरंजन के लिए प्रदर्शित किया जाने लगा। विनोद नृत्य शैली की तरह आंध्र नाट्य ने लोक रंगमंच पर अपना रूप प्रस्तुत किया। मंदिरों में आगम नृत्य के रूप में, राजदरबार में दरबारी नृत्य के रूप में प्रसिद्ध आंध्र नाट्य धनवान लोगों के सामने पारिजात प्रबंध नृत्य के रूप में या विनोद नर्तन के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस विनोद नाट्य में यक्षगान, भगवतम, पारिजातम नूतन नाट्य प्रक्रियाएं शामिल की गईं। अपने-अपने प्रिय भगवान पर लिखी गई 'दरुवु' नामक रचनाओं को पारिजातम या भमाकलापम के रूप में प्रदर्शित किया गया। 'नव पारिजातम' नाट्य

प्रक्रिया को मंदिरों में नौ दिन प्रदर्शित करने के बाद दसवें दिन भगवतम का दशम स्कन्ध पढ़ा जाता था। इस नृत्य कला को श्रीमती बन्डि वेंकटरत्नम, श्रीमती पेन्डेल सरस्वती, श्रीमती दुगिराला माणिक्यम, श्रीमती गुडिगण्ट नागमणिम्म आदि ने प्रदर्शित करके जीवंत रखा। आधुनिक काल में पद्मश्री नटराज राम कृष्ण, श्री कला कृष्ण, श्री कोराड नरसिंह मूर्ति, श्री वेदांतम सत्यनारायण शर्मा, श्री अजय आदि ने पुरुष स्त्री वेष धारण करके आंध्र नाट्य कला की कीर्ति का चतुर्दिक प्रसार किया। भारतीय संस्कृति गतिशील है। वह अविनाशी है। जैसे गंगा नदी उप नदियों को अपने में समाकर आगे गतिशील होती है वैसे ही भारतीय संस्कृति भी है। आंध्र संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है और आंध्र नाट्य उस संस्कृति का प्रतीक है।

29-35-7, गोल्ललपालेम,
चुमेन्स कॉलेज के पास, जेल रोड,
विशाखापट्टणम-530 020
(आंध्र प्रदेश)
मो. : 09703498549

स्वाधीनता सेनानियों का तीर्थस्थल सैल्यूलर जेल

डॉ. जगदीश सिंह मन्हास



सैल्यूलर जेल का बाहरी दृश्य

बंगाल की खाड़ी में मोतियों की तरह बिखरे हुए अंडमान व निकोबार द्वीप समूह कई कारणों से हमारा ध्यान अपनी ओर खींचते हैं। चारों ओर हिलोरे मारता सागर, उसके जल में तैरती मछलियों, सीपियों और कोरल्स की अद्भुत दुनिया, नारियल के पेड़ों से भरी हरी-भरी धरती, मानव सभ्यता के विकास का इतिहास बताती आदिम जनजातियाँ और विभिन्न धर्मों और विभिन्न प्रांतों से आए लोगों से बना लघु भारत ही इन द्वीपों की विशेषता नहीं है अपितु यहाँ की सबसे बड़ी पहचान स्वाधीनता सेनानियों के तीर्थस्थल के रूप में की जाती है।

अत्याचारी शासन के विरुद्ध जिन देशों ने संघर्ष किए हैं, उनमें दमन और अत्याचार के प्रतीक कुछ ऐसे स्मारक हैं जहाँ देशभक्तों का मनोबल तोड़ने के लिए अनेक प्रकार की अमानवीय यातनाएं दी गईं। भारत की आजादी के लंबे संघर्ष में अंडमान व निकोबार द्वीप समूह की सैल्यूलर जेल भी इसी प्रकार अंग्रेजी सरकार द्वारा स्वाधीनता सेनानियों को दी गई भयंकर यातनाओं का प्रतीक बन गया है। यदि

अपनी आजादी के इतिहास पर हम एक नजर डालें तो हम पाते हैं कि इसका पूरा इतिहास गुलामी, अन्याय, अत्याचार आदि के विरुद्ध एक आजाद समाज के लिए किए गए संघर्ष का इतिहास है।

आज हम जिस आपाधापी के राजनैतिक वातावरण को भोग रहे हैं, जिस सांस्कृतिक परिवेश की चकाचौंध में खो गए हैं, जिन सामाजिक परिस्थितियों में जी रहे हैं, उसमें हम भूलते जा रहे हैं आजादी के इतिहास को, आजादी के उद्देश्य को, आजादी के लिए शहीद होने वाले वीरों को और कठोर यातनाएं सहने वाले स्वाधीनता सेनानियों को। ऐसे में अपने देश के उस संघर्ष भरे इतिहास की ओर मुड़कर देखना, रोमांचकारी तो है ही, भविष्य के लिए शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करना भी है।

सैल्यूलर की कहानी 29 दिसम्बर 1788 से आरंभ होकर, 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम, बहावी आंदोलन, मोजला राष्ट्रीय विद्रोह, रम्पा विद्रोह, काकोरी कांड, भुसावल कांड, लाहौर षड्यंत्र कांड,



सैल्यूलर जेल का मॉडल

चटगाँव शस्त्रागार आक्रमण कांड आदि देश के अनगिनत क्रांतिकारी आंदोलनों और 1942 से 1945 तक की आजाद हिंद फौज और जापानी शासन से गुजरती हुई, सन् 1947 में प्राप्त आजादी तक की एक कड़ी है। द्वीपों के इतिहास पर यदि नजर डालें तो अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार ने यहाँ बंदी उपनिवेश बसाने की बात 29 दिसम्बर 1788 को सोची थी। सितंबर 1789 को लेफ्टिनेंट ब्लेयर पोर्टकार्नवालिस (जिसके नाम से पोर्टब्लेयर का नामकरण हुआ) इन द्वीपों को बसाने आया था। अगस्त 1790 में इन द्वीपों में जहली बस्ती बसाई गई। 6 साल बाद फरवरी 1796 में बीमारियों से होने वाली मौतों के कारण यहाँ से बस्ती समेट ली गई, जिसमें 250 से अधिक बंदी तथा 500 अन्य लोग थे।

इन द्वीपों में बंदी उपनिवेश पुनः बसाने का विचार नवम्बर 1857 में ब्रिटिश सरकार के सामने उस समय पैदा हुआ जब सिपाही विद्रोह के नाम से आजादी की पहली लड़ाई आरंभ हुई। अंग्रेजी सेना में कार्यरत भारतीय सैनिकों ने शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों ने दमनकारी नीति अपनाकर विद्रोह पर काबू पा लिया और कई लोगों को बंदी बना लिया गया। धीरे-धीरे आजीवन कारावास के बंदियों की संख्या बढ़ने लगी और यह महसूस किया जाने लगा कि उन्हें भारत भूमि से दूर किसी एकांत जगह में जाकर रखा जाए जहाँ वे जीवन भर अपने दिन गुजारें और अंत में मौत को गले लगा लें। इसी निर्णय को अंजाम देने के लिए मार्च 1858 में कैदियों को पोर्टब्लेयर भेजा गया। उस समय यहाँ घने वन, जनजातियों और जंगली जीव-जंतुओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। अंग्रेज सैनिक सुबह से शाम तक इन बंदियों से वनों की साफ-सफाई करवाते और शाम होते-होते उन्हें जंगल में छोड़कर खुद जहाज से मुख्य भूमि की ओर लौट आते। उस समय घने जंगल व चारों ओर गहरा समुद्र होने के कारण कैदी यहाँ से भाग भी नहीं सकते थे। जैसे-जैसे जंगल की सफाई और अन्य निर्माण कार्य बढ़ता गया, बंदियों को यहाँ भेजने का क्रम भी तेज होता गया। फरवरी 1864 में पहली बार 500 बंदियों को 'पोर्टमोट' नामक स्थान पर बसाया गया और इस तरह बंदियों को

यहाँ बसाने का क्रम जारी हुआ। तभी अंग्रेज शासकों ने पोर्टब्लेयर में सैल्यूलर जेल के निर्माण की योजना बनाई। इस जेल का निर्माण अक्टूबर 1896 में आरंभ किया गया, जो सन् 1906 में जाकर पूरा हुआ। उस समय इस पर लगभग 5 लाख 17 हजार रुपये खर्च हुए। जब इस जेल का निर्माण हुआ तब इसकी कुल सात भुजाएं अर्थात् सात सैल थे जिनमें 698 कोठरियाँ थीं। केंद्रीय बुर्ज (सैंटर टॉवर) इनके आलंबन के रूप में था। प्रत्येक भुजा की तीन मंजिलें थीं तथा सैंटर टावर की

चार। सैंटर टावर को सातों भुजाओं से इस प्रकार जोड़ा गया था कि मीनार पर बैठा एक सिपाही पूरी जेल पर नजर रख सकता था। कोठरियों का निर्माण इस प्रकार किया गया कि इन्हें देखकर दिल दहल जाता है। प्रत्येक कोठरी लगभग 13 फुट लंबी और 7 फुट चौड़ी है। फर्श से लगभग एक फुट की ऊँचाई पर 3 फुट लंबा और डेढ़ फुट चौड़ा रोशनदान बनाया गया था।

भारत की अन्य जेलों की तुलना में यह जेल बिल्कुल अलग थी। इसकी बनावट ऐसी थी कि किसी भी भुजा की किसी भी मंजिल पर कोई भी गड़बड़ हो जाने पर मात्र एक दरवाजा बंद कर देने पर उस पूरी भुजा की वह मंजिल शेष जेल से अलग हो जाती थी। इस प्रकार सभी बंदियों पर नियंत्रण रखना बड़ा सरल था। एक कतार में गड़बड़ी होने पर दूसरी कतार या उसी कतार की अन्य मंजिल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। जेल की प्रत्येक भुजा की तीनों मंजिलें केवल एक दिशा में ही खुलती थीं। इस तरह एक भुजा की कोठरी में रहने वाले कैदी किसी दूसरी भुजा के अंदर रहने वाले कैदियों को देख भी नहीं सकते थे। इस जेल का निर्माण करते समय हर कोठरी का ताला



सैल्यूलर जेल की एक कोठरी



काल कोठरी के बाहर का गलियारा

बंद किया जाता था ताकि किसी तरह भी ताले को तोड़ा या खोला न जा सके। इन काल कोठरियों के बाहर लगभग 4 फीट चौड़ा एक बरामदा है जिसे लोहे की मोटी सलाखों और खंबों से फर्श से छत तक बंद कर दिया गया था। कोठरी के अंदर वाले कैदी को केवल बरामदे में आते-जाते कैदी तथा अगली भुजा में बनी कोठरियों की पिछली दीवार ही देखने को मिलती थी।

इस जेल में भारत के जिन वीर सपूतों ने भारत की आजादी के लिए कष्ट सहे, उनमें वीर विनायक दामोदर सावरकर, बटुकेश्वर दत्त, वीरेन्द्र कुमार घोष, लोकनाथ बाल, पाण्डु पण्डल, सीता राम राजु, बाबा पृथ्वी सिंह आजाद, कमलनाथ तिवारी, गणेश चन्द्र घोष आदि के नाम प्रमुख हैं। सैल्यूलर जेल का मुख्य द्वार जो लगभग 30 फुट ऊँचा है, के दोनों ओर बड़े हाल बने हुए हैं जिनमें उन स्वाधीनता सेनानियों के 300 से अधिक चित्र लगाए गए हैं, जिनका संबंध इस जेल से रहा है। इसके अतिरिक्त, इस जेल की केंद्रीय मीनार में लगाई गई संगमरमर की पट्टिका पर भारत के अलग-अलग प्रांतों के 500 से अधिक स्वतंत्रता सेनानियों के नाम भी खुदे हुए हैं।

जेल की दो भुजाओं के बीच वाले स्थान में एक तिकोना मैदान बनाया गया, जहाँ कारखाने बनाए गए। इन कारखानों में नारियल से जूट निकालना, नारियल से खोपरा अलग करना और कोल्हू में बैलों

सैल्यूलर की कहानी 29 दिसम्बर 1788 से आरंभ होकर, 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम, बहावी आंदोलन, मोजला राष्ट्रीय विद्रोह, रम्पा विद्रोह, काकोरी कांड, भुसावल कांड, लाहौर षड्यंत्र कांड, चटगाँव शस्त्रागार आक्रमण कांड आदि देश के अनगिनत क्रांतिकारी आंदोलनों और 1942 से 1945 तक की आजाद हिंद फौज और जापानी शासन से गुजरती हुई, सन् 1947 में प्राप्त आजादी तक की एक कड़ी है।

की तरह जुतकर नारियल और सरसों का तेल निकालना जैसे भारी मेहनत वाले काम कैदियों से करवाए जाते थे। प्रतिदिन 30 पौंड नारियल का तथा 20 पौंड सरसों का तेल निकालने के लिए कैदियों को मजबूर किया जाता था। पैरों में बेड़ियाँ डालकर उनसे ये काम करवाए जाते थे। इन कठिन कार्यों को पूरा न करने पर उन्हें कड़ी सजा दी जाती थी। कभी नंगे बदन पर बेंत लगाने की तो कभी सात दिन तक लगातार हर रोज 8 घण्टे खड़ी हथकड़ी की सजा दी जाती थी। वीर सावरकर को जब-जब यह सजा मिली, तब-तब उन्होंने साहित्य रचना की। उन्हें बार-बार दोहराकर उसे कंठस्थ किया और ऐसा कठिन समय साहित्य रचना में व्यतीत किया। इसके अतिरिक्त कैदियों को बोरियों के वस्त्र पहनने की भी सजायें दी जाती थी।

वीर सावरकर को सैल्यूलर जेल की 123 नम्बर की कोठरी में रखा गया, जिसमें सूर्य की किरणों के प्रवेश न होने के कारण हमेशा सीलन और दुर्गंध ही रहती थी। ब्रिटिश सरकार इनसे इतनी भयभीत थी कि इन्हें एक कोठरी में बंद करके ही संतोष नहीं हुआ बल्कि उनकी कोठरी के बरामदे को भी कोठरी का रूप देकर उसमें एक और दरवाजा लगाकर उस पर दूसरा ताला लगा दिया जाता था। सावरकर की कोठरी से अगर नीचे उतरें तो उसके आगे बने छोटे कमरे दिखाई पड़ते हैं, जिनमें फांसी-घर है, जहाँ कैदियों को फांसी दी जाती थी। फांसी की कोठरी के साथ लगती दो कोठरियों में फांसी देने वाले कैदियों को फांसी से पूर्व रखा जाता था।

जेल के तत्कालीन जेलर डेविड बैरी ने स्वाधीनता सेनानियों को कड़ी यातनाएं दी, जिसका उल्लेख स्वाधीनता सेनानियों ने अपने संस्मरणों में किया है। इसकी यातनाओं से परेशान होकर मई 1933 में हड़ताल की गई। 1937 तक हड़ताल का सिलसिला लगातार चलता रहा। अगस्त 1937 में महात्मा गांधी जी ने एक तार भेजकर कैदियों को 36 दिन लम्बी हड़ताल समाप्त करने का संदेश भेजा। परिणामस्वरूप हड़ताल समाप्त हो गई। सन् 1937 से ही इस जेल के कैदियों को



सैल्यूलर जेल में खोपरे का तेल निकालने का कोल्हू



दिसम्बर 1943 को तीन दिन के लिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का इन द्वीपों में आगमन हुआ। तभी इन्होंने सैल्यूलर जेल जाकर स्वाधीनता सेनानियों को श्रद्धासुमन भेंट किए और आजाद भारत की प्रोविजनल सरकार का झंडा इस जेल पर लहराया। जेल के प्रवेश द्वार के साथ नेताजी का चित्र इसी दौरे के समय का लिया गया चित्र है। आज इस जेल की सात में से केवल तीन भुजायें ही शेष हैं। इसकी चार भुजाएं जापानी शासन के दौरान तोड़ दी गई। आज उन चारों भुजाओं के स्थान पर अंडमान-निकोबार प्रशासन द्वारा गोविन्द वल्लभ पंत के नाम से अस्पताल चलाया जा रहा है।

30 अप्रैल 1969 को इस ऐतिहासिक जेल को राष्ट्रीय स्मारक बनाने की घोषणा की गई, लेकिन इसके निर्माण कार्य में देरी होने के कारण 11 फरवरी 1979 को पूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने इसे राष्ट्र को समर्पित किया। अंडमान को अंग्रेजों ने दंडितों की बस्ती के रूप में स्थापित किया और इसकी पहचान 'काला पानी' के रूप में करवाई। उन्होंने यहाँ पर क्रांतिकारियों को अमानवीय यातनाएं देने के लिए और उनके मनोबल को तोड़ने के लिए सैल्यूलर जेल का निर्माण किया था, लेकिन यहाँ पर आए स्वाधीनता सेनानियों ने अंग्रेजों के अत्याचार और दमन के बावजूद अपनी तपसाधना से इस जेल को पवित्र यज्ञस्थली का रूप दे दिया। देशभक्त क्रांतिकारियों का मनोबल इतना प्रबल था कि यहाँ आने वाला हर व्यक्ति नतमस्तक हो और इन द्वीपों के प्रति अपने श्रद्धासुमन अर्पित करें।

स्वदेश अर्थात् मुख्य भूमि भेजने का सिलसिला आरम्भ हो गया। जनवरी 1938 में जेल से सभी बंदी रिहा कर दिए गए।

दूसरे महायुद्ध के दौरान सन् 1942 में जापानियों के कब्जे के समय लोगों को यातनाएं दी जाने लगी। उस समय 144 लोगों को जापानियों ने हम्प्रीगंज के टीले पर एक साथ गोली मार दी। इसी दौरान 29

जवाहरलाल नेहरू
राजकीय महाविद्यालय
पोर्टब्लेयर
फोन: 09434282478



यह तीर्थ महातीर्थों का है,
मत कहो इसे काला पानी,

तुम सुनो यहाँ की धरती के
कण-कण से गाथा बलिदानी।

-गणेश दामोदर सावरकर

झारखंड के शैल-चित्र

डॉ. सुधांशु शेखर मिश्र



आदि मानवों ने गुफाओं की दीवारों एवं छतों पर विभिन्न प्रकार की जिन चित्रात्मक व कलात्मक आकृतियों का निर्माण किया उन्हीं कलाकृतियों को हम शैल-चित्र कहते हैं। विश्व के विभिन्न भागों के अलावा भारत में भी पाषाणकालीन शैल-चित्रों की प्रचुरता है। झारखंड राज्य में भी कई ऐसे स्थल हैं, जहाँ शैल-चित्र पाए गए हैं। ये कलाकृतियाँ दर्शाती हैं कि प्राचीन काल में भी यहाँ विकसित मानव सम्यता व संस्कृति थी।

शैल-कला को कई अन्य नामों से भी जाना जाता है, यथा शैल-उत्कीर्णन, शैल-अभिलेख, शैल-चित्र, शैल-रिकार्ड, शैल-मूर्तिकला आदि। यद्यपि यह कला है तो अत्यंत प्राचीन लेकिन इसका लिखित उल्लेख बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में ही देखने को मिलता है।

प्राकृतिक पत्थरों पर आदिमानव द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के चिह्नों व आकृतियों को मुख्यतः दो श्रेणियों यथा पेट्रोग्लाइफ और पिक्टोग्राफ चित्रलेख के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। पत्थर की ऊपरी सतह पर नक्काशी करके बनाया गया शैलचित्र, पेट्रोग्लाइफ श्रेणी के अंतर्गत आता है। इसमें पत्थरों की सतह को तराशकर या काटकर आकृति उभारी जाती है और पत्थर पर प्राकृतिक रंगों के माध्यम से उकरे गए शैल-चित्र, पिक्टोग्राफ कहलाते हैं। इस श्रेणी के चित्रों में सफेद या लाल गेरूमय रंगों की प्रमुखता होती है। झारखंड में पाए जाने वाले अधिकांश शैल-चित्र इसी श्रेणी के हैं।

शैल-चित्रों की उपलब्धता की दृष्टि से पूरे विश्व में भारत का तीसरा स्थान है, वैसे आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में इनकी संख्या सर्वाधिक है। पुरातत्व विभाग ने सर्वप्रथम शैल-कला की खोज सन् 1856 ई. में प्रारंभ की थी लेकिन अधिकांश उपलब्ध शैलचित्रों की जानकारी बीसवीं शताब्दी में ही मिल पाई। वर्तमान में झारखंड सहित देश के विभिन्न भागों में शैल-चित्रों की एक लंबी शृंखला है।

उत्तराखंड के कुमाऊँ क्षेत्र में 68 शैलचित्र स्थलों की जानकारी मिली है। पश्चिमी भारत में भी इनकी बहुलता है जो मुख्य रूप से वडोदरा, भावनगर तथा अरावली पर्वत शृंखला में स्थित हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र में इनामगाँव, चंद्रपुर तथा नासिक में ऐसे अनेक शैल-चित्र हैं। उत्तर-पूर्व के राज्यों में मेघालय के गारो हिल्स तथा मणिपुर ऐसे ही स्थान हैं। दक्षिण भारत में तमिलनाडु, केरल तथा कर्नाटक राज्य में भी शैल-चित्र मिले हैं। उड़ीसा के संबलपुर जिले में भी शैलचित्र पाए गए हैं। यह स्थान झारखंड की छोटानागपुर पर्वतीय शृंखला का ही विस्तृत भाग है।

झारखंड में भी शैल-चित्रों की बहुतायत है। सिंहभूम तथा कैमूर पर्वत शृंखला में कई स्थानों पर शैल-उत्कीर्णन के प्रमाण मिले हैं। बहरहाल, हजारीबाग तथा राँची जिले के कुछ भागों में मिलने वाले शैल-चित्र कलात्मकता की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट श्रेणी के हैं।

राँची से लगभग 40 कि.मी. की दूरी पर स्थित टाँगर-बसली नामक स्थान पर पहाड़ों के मध्य प्राकृतिक पत्थरों पर आकर्षक शैल-चित्र



पाए गए हैं, लेकिन उचित देखभाल न होने के कारण ये बहुमूल्य कलाकृतियाँ धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं। इसी तरह हजारीबाग से लगभग 45 कि.मी. दूर बडका गाँव की घाटी में इस्को नामक गाँव के समीप असवारी पहाड़ी शृंखला की सती पहाड़ी पर नाग के फन की आकृति वाली लगभग 100 x 25 फीट की दीवार पर शैल-चित्रों की एक शृंखला बनी हुई है। हजारीबाग में इस्को के अतिरिक्त प्लांडू तथा मंडेर नामक दो अन्य स्थानों पर भी शैल-चित्र दीर्घा मिली हैं। ये शैल-चित्र प्राचीन काल में इस क्षेत्र में आदिमानव के निवास तथा उनकी विकसित सभ्यता व संस्कृति को रेखांकित करते हैं।

इन शैल-चित्रों का प्रागैतिहासिक कालीन होना ही इनकी प्राचीनता को दर्शाता है। सबसे प्राचीन शैल-कला का प्रमाण कॉवरेट (फ्रांस) में मिला है, जिसका समय 35,000 वर्ष पूर्व का माना गया है। मानव सभ्यता का विकास विभिन्न चरणों में हुआ। कई स्तरों के पाषाण काल के बाद धातु-युग, पशुपालन तथा खेती आदि का क्रमशः विकास हुआ। इसके साथ ही मानव सभ्यता व संस्कृति क्रमशः परिष्कृत होती गई। आदिमानव ने भी विकास के विभिन्न चरणों में अलग-अलग स्थलों पर इन शैल-चित्रों का निर्माण किया।

हजारीबाग क्षेत्र में पाए जाने वाले शैल-चित्र अपेक्षाकृत बाद के समय के प्रतीत होते हैं। यहाँ के पकरी, सिसिया आदि स्थान मेगालिथिक स्टोन ब्रीड क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अनुसार, यह क्षेत्र 6000 ई.पू. का है। इस क्षेत्र में कार्य कर रहे कलाकर्मी श्री बुलु इमाम के अनुसार, इस्को में कोहबर गुफा

के निकट एक पॉलिश किया हुआ पाषाण सेल्ट प्राप्त हुआ है, जो 4000 ई. पू. का है। एक अन्य शोधकर्मी श्री देवनारायण प्रसाद के अनुसार, यहाँ के शैल-चित्र 2000 ई.पू. से 1000 ई. पू. के प्रतीत होते हैं।

शैल-चित्र के विभिन्न रूप-स्वरूप

पाषाणकालीन कलाकारों द्वारा निर्मित शैल-चित्रों में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है, जिनमें सांकेतिक, प्रतीकात्मक, चित्र-संबंधी, अमूर्त तथा निरपेक्ष चित्रों की बहुलता है। प्रकृतिवादी चित्रों में मुख्य रूप से आखेट का दृश्य, विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, यथा गवल, घोड़ा, मवेशी व मैमथ आदि दिखाई देते हैं। इसी प्रकार इन शैल-चित्रों में कई अन्य जीव-जंतुओं को भी दर्शाया गया है, जैसे शेर, बैल, गदहा, साँभर, भेड़िया, लोमड़ी, खरगोश, मछली, रंगने वाले जीव आदि। इनमें मानव-चित्र बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। इन सबके अलावा बिंदु, लकीर, चिह्न तथा प्रतीकों की भी बहुलता है।

झारखंड के इस्को में पाए जाने वाले शैल-दीर्घा के रूप-स्वरूप को देखने से कई दृश्य उभरते हैं। यहाँ दाहिनी ओर से चित्र-समूह को



शैल-कला को कई अन्य नामों से भी जाना जाता है, यथा शैल-उत्कीर्णन, शैल-अभिलेख, शैल-चित्र, शैल-रिकार्ड, शैल-मूर्तिकला आदि। यद्यपि यह कला है तो अत्यंत प्राचीन लेकिन इसका लिखित उल्लेख बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में ही देखने को मिलता है।



गौर से देखने पर यह प्रतीत होता है कि एक पुरोहित अपने आसन पर बैठकर अन्य आसन पर बैठे स्त्री-पुरुष को एक हवन कुंड के सामने यज्ञ करा रहा है। इस मुख्य चित्र के अगल-बगल में संभवतः गायक, सूर्य आदि के चित्रों को भी दर्शाया गया है। इसी तरह शैल-दीर्घा की बाईं ओर के चित्रों को देखने पर शिवलिंग का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। इन सबके अलावा यहाँ पान का पत्ता, तलवार, स्वास्तिक, जानवरों की बलि के लिए फाँसा आदि के चित्र बड़े ही साफ ढंग से बनाए गए हैं। शैल-चित्रों की इतनी विविधता निश्चित रूप से किसी उद्देश्य विशेष की तरफ इशारा करती है।

शैल-चित्र निर्माण का उद्देश्य

शैल-चित्र के उद्देश्य के संबंध में ठीक-ठीक कुछ कह पाना कठिन है। प्रारंभ में अधिकांश पुरा-मानवशास्त्रियों की यह धारणा थी कि इनका निर्माण मूल रूप से सजावट की दृष्टि से किया गया होगा। गहन अन्वेषण के बाद विद्वानों के विचार में व्यापक बदलाव आया। पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर कुछ लोगों की यह धारणा है कि चित्रयुक्त गुफाएं पाषाण-कालीन मानव के अस्थायी निवास स्थल थे, जहाँ रहने के दौरान उन लोगों ने इन शैल-चित्रों को मूर्तरूप दिया। कुछ विद्वान इन शैल-चित्रों के निर्माण का कारण पुरोहित द्वारा संपन्न धर्मानुष्ठान में भी खोजते हैं। झारखंड के संदर्भ में कुछ शोधकर्ताओं ने इन शैलचित्रों को मोहनजोदड़ो व हड़प्पा की सभ्यता से जोड़कर इसका सिंधु लिपि होना माना है। इतना ही नहीं, इसके आधार पर इन्होंने गूढलिपि का अर्थ निकालने का भी प्रयास किया है।

शैल-चित्र एवं सामाजिक मूल्य

हजारीबाग के इस्को में मिलने वाले इन शैल-चित्र समूहों का विशिष्ट सामाजिक महत्व है। इस क्षेत्र में निवास करने वाले विभिन्न समुदायों यथा कुरमी, कुम्हार, उराँव, संधाल आदि ने इनके मूल्यों को अपने सामाजिक जीवन में आत्मसात किया है। मिट्टी के कच्चे घरों में रहने वाले इन समुदायों के सदस्य विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक अवसरों पर इन शैल-चित्रों की आकृतियों को अपने घरों में उकेरते हैं। घर की बाहरी व भीतरी दोनों दीवारों पर प्राकृतिक रंगों के माध्यम से सामान्य दातुन की कूची, कंधी आदि का प्रयोग कर इन चित्रों को बनाया जाता है। विवाह, सोहराय-पर्व आदि अवसरों पर यहाँ के गाँव शैल-चित्रों की आकृतियों से पटे हुए अत्यंत आकर्षक लगते हैं। इस प्रकार शैल-चित्रों की यह परंपरागत कला यहाँ के सामाजिक जीवन में जीवंत है, जिसे सामान्यतः कोहबर व सोहराय कला के रूप में जाना जाता है। दुःख इस बात का है कि आधुनिकीकरण और शहरीकरण के कारण आज की नई पीढ़ी इस प्रागैतिहासिक कला को पिछड़ेपन का प्रतीक मानकर नकार रही है। इसके साथ-साथ मिट्टी के घरों के स्थान पर कंक्रीट के घरों का निर्माण होने के कारण भी इस कला का प्रचलन क्रमशः कम होता जा रहा है।

पूरे भारतवर्ष में शैल कला परंपरा की शृंखला है। झारखंड में उपलब्ध शैल-चित्र भी अत्यंत उच्च कोटि के हैं। ये हमारी प्राचीन समृद्ध संस्कृति की दुर्लभ जानकारी को अपने में समेटे हुए हैं। ये उस काल की धरोहर हैं, जब मानव ने लेखन-कला सीखी ही नहीं थी। अतः इस अमूल्य निधि को बचाने के लिए इसके उचित रखरखाव व संरक्षण की तत्काल आवश्यकता है।

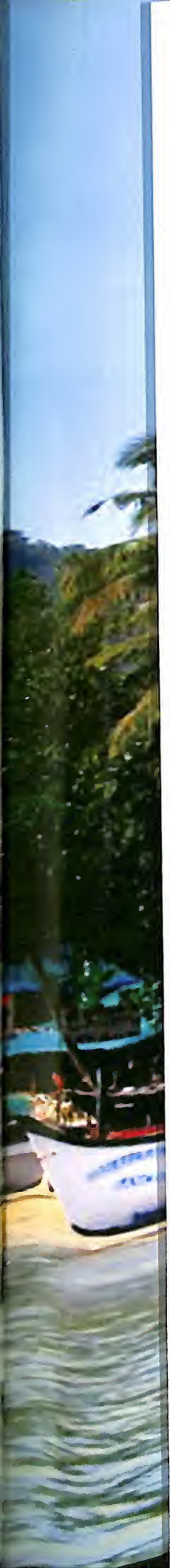
सहायक मानवशास्त्री

भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण

राँची फील्ड स्टेशन, 163 बी, न्यू ए.जी.

कॉलोनी, कडरू राँची-834002 (झारखंड)

मो. 09431561424





पलोलम समुद्र तट, गोवा

फोटो: नीरज प्रसाद



असम की कार्बी रामायण 'छाबिन आलुन'

डॉ. जुरी देवी



असम के उत्तर-पूर्व सीमांत में निवास करने वाली कार्बी जनजाति असम की अपरिहार्य लोक-समष्टि है। कला, संस्कृति और साहित्य के बिना किसी जाति का कोई अस्तित्व नहीं होता। कार्बी जनजाति भी कला, संस्कृति और साहित्य में अपनी एक अलग पहचान बनाने में समर्थ हो पाई है। कार्बी लोग मंगोल नस्ल के और भाषायी दृष्टि से तिब्बती-बर्मी समूह के हैं। तिब्बती-बर्मी भाषा बोलने वाले विभिन्न लोगों का मूल स्थान यांग-टी-कियांग और हाउआंग-हो नदियों के निकट पश्चिमी चीन में था। वे इन स्थानों से ब्रह्मपुत्र, चिंडविन और इरावड्डी जलमार्ग से नीचे की ओर आकर भारत और बर्मा में प्रवेश कर गए। ऐसा माना जाता है कि कार्बी लोग मध्य एशिया से असम में आए, लेकिन लिखित दस्तावेजों तथा पुरातात्विक अवशेषों आदि जैसे अन्य प्रमाणों के अभाव में कार्बी जनजाति के प्रारंभिक उपनिवेश के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। भारत सरकार के संवैधानिक आदेश में कार्बी लोगों का उल्लेख 'मिकिर' के रूप में किया गया है।

कार्बी भाषा की गीतात्मक रामायण 'छाबिन आलुन' प्राचीन काल से ही कार्बी जनजाति के लोगों के बीच प्रचलित होती चली आ रही है। बाहर के लोगों को इसके बारे में अधिक जानकारी नहीं थी क्योंकि इसे प्रकाश में आए हुए कुछ ही समय हुआ है। दिफु (असम का कार्बी आंगलांग जिला) साहित्य सभा के अध्यक्ष और कार्बी आंगलांग जिला परिषद के मुख्य कार्याधिकारी स्व. जयसिंह दोलोई ने इस छोटी रामायण को प्रकाशित करके एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। दिफु के तत्कालीन आरक्षी अधीक्षक प्रेमकांत महंतदेव ने विभिन्न स्थानों में व्यवहृत गीतों (छाबिन आलुन) को एकत्रित करने में मदद की थी। 'छाबिन आलुन' के अब तक दो पाठ प्रकाशित हुए हैं। पहला पाठ दिफु साहित्य सभा ने सन् 1976 में प्रकाशित किया था, जिसके संग्राहक हैं प्रेमकांत महंत और दूसरे पाठ का संग्रह और संकलन स्व. चामचिं हांचे ने किया था। इस पाठ को असम साहित्य सभा ने सन् 1986 ई. में प्रकाशित किया।

'छाबिन आलुन' का प्रचलन कब से हुआ, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी 'छाबिन आलुन' राम-कथा 14वीं-15वीं शताब्दी की होने का अनुमान लगाया जाता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि कार्बी लोग रामायण की कहानी खोटानिज अंचल से पलायन करते समय अपने साथ ले आए थे। कुछ विद्वान अपनी राय



कार्बी जनजाति युगल

व्यक्त करते हुए यह भी कहते हैं कि 14वीं शताब्दी में असम के नगाँव और कार्बी आंगलांग जिले के बीच समतल भूमि में बराही राजा महामाणिक्य था, जो रामायण महाकाव्य के प्रति विशेष अनुराग रखता था। राजा के आश्रय में रहकर कवि माधव कंदली ने रामायण महाकाव्य का अनुवाद किया था। माधव कंदली द्वारा अनूदित रामायण ने बहुत ख्याति प्राप्त की और निकटवर्ती इलाके को भी प्रभावित किया था, जिसके फलस्वरूप कार्बी लोग भी रामायण की कहानी के प्रति आकृष्ट हुए और वे उन गीतों को लिखकर गाते थे जो कार्बी भाषा में 'छाबिन आलुन' नाम से जाने जाते हैं। लेकिन यह भी सच है कि चौदहवीं शताब्दी में कार्बी लोग कहाँ, किस हाल में



कार्बी नृत्य

थे, इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। कार्बी जनकवि ने रामायण की कहानी के मूल को रखकर अपनी कल्पना शक्ति के अनुसार, कार्बी जनजीवन को प्रतिफलित कराने के अभिप्राय से 'छाबिन आलुन' की रचना की थी। 'छाबिन आलुन' का उपस्थापन भगवान और लक्ष्मी देवी के मनुष्य रूप परिग्रहण के साथ किया गया है। दुष्क्रीति के प्रतीक रावण का विनाश करके पृथ्वी पर संस्कृति और धर्म की स्थापना करने के लिए 'दहरम' (दशरथ) राजा के घर में राम और लक्ष्मण ने तथा 'रामाणप' (जनक) राजा के घर में 'धिनता-कुरी' (सीता) ने मनुष्य रूप में जन्म लिया। स्वर्ग की एक अप्सरा ने छलनामयी नारी के प्रतीक रूप में जन्म लिया और यह छलनामयी नारी है 'थेछ माहादी' (शूर्पनखा)।

रामायण की मूल कहानी के साथ यदि 'छाबिन आलुन' की तुलना की जाए तो कुछ विसंगतियाँ देखने को मिलती हैं। ये विसंगतियाँ लोकगाथा और लोककथा से प्रभावित होकर 'छाबिन आलुन' की कहानी को विचित्रता प्रदान करने के साथ-साथ आंचलिक विशिष्टता भी प्रदान करती हैं। वाल्मीकि रामायण में सीता के जन्म के बारे में यह कहा गया है कि राजा जनक का हल खेत जोतते समय किसी वस्तु से टकराया था और तभी सीता जी प्रकट हुई। लेकिन 'छाबिन आलुन' में सीता का जन्म मोर के अंडे से दर्शाया गया है। डॉ. सुकुमार सेन के रामायण विषयक शोध प्रबंध से यह ज्ञात होता है कि

अंडे से जन्म लेने वाली बात खोटनियों की रामायण में भी है। कार्बी लोगों की 'छाबिन आलुन' के अनुसार, दशरथ की दो पत्नियाँ थीं। यहाँ कैकेयी की कोई भूमिका नहीं है। राम को बारह वर्ष का वनवास और सीता को दूसरी बार वनवास देने का कोई कारण नहीं दर्शाया गया है। यहाँ शूर्पनखा ने स्वयं हिरण का रूप धारण किया था और सीता के शोक से व्यथित होकर राम ने लक्ष्मण को रावण का वध करने के लिए बाध्य किया था। बाली-सुग्रीव का जो विरोध है वह भी 'छाबिन आलुन' में राम से मुलाकात के समय नहीं बल्कि सीता उद्धार के बहुत समय बाद दिखाया गया है।

राम-सीता के मिलन का वर्णन तो किया गया है, लेकिन अंत में सीता स्वयं 'बैकुंठ जाने का समय हो गया है' कहकर एक पहाड़ की दरार में प्रवेश करती है।

जब राम-लक्ष्मण का जन्म हुआ था, तब रावण के सिर का मुकुट गिर पड़ा था। उस समय रावण को यह एहसास हुआ कि इस धरती पर किसी वीर पुरुष का जन्म हुआ है। इस बच्चे का जन्म कहाँ हुआ है, यह पता लगाने के लिए उसने अपने सैनिकों को चारों दिशाओं में भेजा, क्योंकि इस घटना से रावण सशंकित हो गया था। रावण के सैनिक जब राजा दशरथ के घर पहुँचे तो राम-लक्ष्मण उन लोगों का अभिप्राय समझ गए थे और वे कहने लगे कि पृथ्वी पर हम पाप-पुण्य का विचार करने के लिए आए हैं। रावण के हाथ जिन लोगों की मृत्यु होगी वे पाताल में जाएंगे और जिन लोगों की मृत्यु हमारे हाथों होगी उन लोगों को बैकुंठ प्राप्त होगा। मौखिक परंपरा के रूप में प्रचलित 'छाबिन आलुन' में वर्णित सामाजिक परिवेश,

कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, जीवन-धारा, आचार-अनुष्ठान, रीति-नीति, लोक-विश्वास आदि कार्बी जन-समाज का ही वास्तविक रूप हैं।

'छाबिन आलुन' के राजा जनक एक कृषक हैं जो पहाड़ों में जंगल काटकर कठोर परिश्रम करके खेती-बाड़ी करते हैं और खेत में ही बाँस के सहारे ऊँचाई पर एक छोटा



कार्बी नृत्य (सामाजिक संस्था 'जेड सी सी, दीबापुर')

सा घर बनाकर खेतों (झूम खेत) की रखवाली भी करते हैं। साथ ही भात, मदिरा (हरलाड) आदि का सेवन करते हैं। राजा दशरथ का महल भी साधारण कार्बी लोगों के समान ही दो टुकड़ों से निर्मित छप्पर का है। यहाँ सीता को भी एक साधारण कार्बी नारी की तरह चित्रित किया गया है। वे कार्बी नारी की तरह घर के काम-काज के अलावा खेतों में पिताजी के लिए खाना लेकर जाती थीं और कपड़ा भी बुनती थीं। यहाँ तक कि जब सीता वनवास में थीं उस समय भी वे कपड़ा बुनना नहीं भूलतीं। सीता के बुने हुए कपड़े से आकृष्ट होकर बहन शूर्पनखा ने भाई रावण को उसकी प्रशंसा करते हुए कहा था कि सीता ने सुंदर-सुंदर फूल, चिड़िया आदि की आकृति लेकर जो कपड़ा बुना है वैसा कपड़ा उसने दुनिया में कहीं भी नहीं देखा।

इस गीत रामायण 'छाबिन आलुन' में रावण का सिर और हाथ दोनों बारह खंड के हैं। रावण का जीव उसके कमरे के एक खंभे के पोला में रखा हुआ होता है। 'छाबिन आलुन' में किसी कवि ने राम को वनवास 'नाराजन आलं' (नारायण पहाड़) में और किसी ने 'लालंकु वन' में दिया गया बताया है। सोने के हिरण का पीछा करते-करते जब राम आगे निकल गए थे, तो लक्ष्मण ने राम को 'मामल' पहाड़ पर पाया था। रावण के बाण से जब लक्ष्मण अचेत हुए थे, तब मृतसंजीवनी बूटी लेने के लिए 'उलिमान' (हनुमान) 'मालंछलि' पर्वत को ही उठाकर ले आए थे।

रामायण की मूल कथावस्तु को परिवर्तित न करके कार्बी कवियों ने अपनी कल्पना शक्ति से जो संयोजन 'छाबिन आलुन' में किया है, उसका अपना एक अलग आकर्षण तथा वैशिष्ट्य है। फलतः 'छाबिन आलुन' के गायकों के गीतों में भी उपस्थापन का क्रम, पटभूमि आदि का अंतर देखने को मिलता है। कार्बी लोगों का यह मानना है कि एक व्यक्ति को अपने जीवनकाल में तीन बार से अधिक 'छाबिन आलुन' के गीत गाना मना है। कार्बी जनकवि ने इस प्रकार 'छाबिन



कार्बी नृत्य (साधारण रूप में जेड जो खो, दीर्घापुर)

आलुन' के गीतों के माध्यम से राम को नररूपी भगवान के रूप में ग्रहण किया है। इस गीत रामायण में प्रकाशित भगवान राम के माहात्म्य के वर्णन से कार्बी जन समाज विशेष रूप से आकृष्ट हुआ था और उन्होंने राम की चर्चा को एक पवित्र कार्य के रूप में माना। कार्बी लोग इस संसार पर विश्वास करके ही पूजा-पाठ आदि के साथ भक्ति-भाव से 'छाबिन आलुन' गाते हैं। संपूर्ण रामायण का संग्रह इसमें नहीं है, कुछ अंश खो गया है या कुछ अंश का संग्रह

अभी तक नहीं किया जा सका है। अगर अनुसंधान किए जाएं तो और भी संग्रह किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि 'छाबिन आलुन' के गायकों की संख्या कम होती जा रही है, इसलिए यह चिंता की बात है कि यदि 'छाबिन आलुन' के गीतों के गायक न रहे तो उसके पुनरुद्धार की कोई आशा नहीं रहेगी। इसलिए इसे संरक्षित करना और अगर हो सके तो वाणीबद्ध करने की अत्यंत आवश्यकता है, जिसके लिए आज की नई पीढ़ी को आगे आना होगा। इस रामायण ने कार्बी लोगों को सर्वभारतीय तथा सर्वव्यापक संस्कृति के साथ जोड़ दिया है।



डोल बजाता कार्बी पुरुष

गाँव : विष्णुज्योति पथ,
बाई लेन-3, मकान नं.-8,
हाथीगाँव, दिसपुर, कामरूप,
गुवाहाटी-781038 (असम)
मो. : 09435518986

अरुणाचल का गालो जनजीवन

रजनी कान्त पाण्डेय 'व्याकुल'



अरुणाचल प्रदेश, भारत का ऐसा अलौकिक प्राकृतिक भू-भाग है जिसे सूरज अपनी चिर नवीन रश्मियों से सर्वप्रथम चूमता है। उन्नत गिरि शिखरों, वेगवती नदियों, सघनवन, विस्तृत घाटियों और हरी-भरी वनस्पतियों से आच्छादित यह अरण्य प्रदेश अपने आप में अनुपम है। बादलों से अभिसार करते पहाड़ अनायास ही हमारे मन-प्राण को आह्लादित कर प्रणय का नवगीत रचते हैं। यहाँ की लोक संस्कृति प्राकृतिक सौंदर्य की सलिलाएं निमज्जन कर अपने आप को अनुकरणीय, संग्रहणीय और दर्शनीय बनाकर एक आदर्श प्रस्तुत करती है। यहाँ के रीति-रिवाज, परंपराएं, पर्व-त्योहार, उत्सव अनुष्ठान की तरह आयोजित किए जाते हैं।

लगभग 83743 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तीर्ण यह राज्य पूर्वोत्तर के अन्य सभी राज्यों से विशाल है। 26°30' और 29°30' उत्तरी अक्षांश तथा 91°30' और 97°30' पूर्वी देशांतर के बीच स्थित है। विशाल भू-खंड पर फैला यह सीमांत राज्य चीन, भूटान और म्यांमार की सीमाओं से मिलता है। इस प्रदेश का अधिकांश भाग ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों, घाटियों और सघन जंगलों से भरा है। असम राज्य से सटे भाग अपेक्षाकृत समतल और मैदानी हैं।

अरुणाचल प्रदेश एक जनजातीय बहुल प्रदेश है। इन जनजातियों की अपनी उप-जातियाँ भी हैं। इनमें आदी, निशी, मोंपा, तागिन, इदू, खाम्ती तांग्सा, नोक्ते, शिंग्फो, मिश्मी, मिजी, वांग्चो, आपातानी, आका, खेवा और हिलमिरी आदि प्रमुख हैं। प्रायः सभी जनजातियों

की अपनी-अपनी विशिष्ट बोलियाँ, रीति-रिवाज, परंपराएं, पूजा पद्धतियाँ, मान्यताएं और पहनावा हैं, जिनके कारण वे एक दूसरे से अलग पहचान बनाती हैं, लेकिन उन सभी में एक ऐसी सजग और जीवंत लोक शैली है जो इन्हें आपस में एक सूत्र में जोड़ती है। यही सजगता और जीवंतता यहाँ के लोक जीवन को अपनी रस माधुरी से ऐसा आप्लावित करती है कि उसमें एक विराट लोक-संस्कृति के दर्शन होने लगते हैं। इनकी विविधता जहाँ इनको विशिष्टता प्रदान करती है वहीं उन्हें भावनात्मक रूप से जोड़ती भी है।

अरुणाचल प्रदेश में कोई एक भाषा या बोली इतनी सर्वमान्य नहीं हो पाती है कि उसे पूरे प्रदेश की जनसंपर्क भाषा का स्थान मिल सके। राज्य सरकार के कामकाज की भाषा तो अंग्रेजी ही है पर बोलचाल में सर्वाधिक प्रयोग हिंदी का ही होता है। हिंदी ही एक ऐसी भाषा है, जिसे अधिकांश लोग आपसी बातचीत में प्रयोग करते हैं। असम राज्य की सीमा पर स्थित कुछ क्षेत्रों में असमिया भाषा का भी प्रयोग बोलचाल में किया जाता है, लेकिन व्यापकता की दृष्टि से यदि देखा जाए तो हिंदी यहाँ जनसंपर्क भाषा का रूप ले चुकी है। पूरे राज्य में किसी भी बोली की अपनी सर्वमान्य लिपि नहीं है, यही कारण है कि प्राकृतिक सुषमा से पूर्ण आवेष्टित, विभिन्न लोक संस्कृतियों से अभिभूषित और विविध लोक मान्यताओं से सजे इस जीवन में लोक साहित्य का अभाव है। वैसे कुछ पुस्तकें विभिन्न लोगों द्वारा लिखी गई हैं पर वे अधिकांशतः अंग्रेजी में हैं, जो आम लोगों के पठन-पाठन से ज्यादा पुस्तकालयों की वस्तु हो गई हैं। गालो लोक



जीवन एवं संस्कृति नाम की पहली पुस्तक हिंदी में गालो जनजाति के हिंदी लेखक श्री जुमसी सिराम ने लिखी है।

अरुणाचल प्रदेश केवल अरण्य प्रांत ही नहीं बल्कि एक देवप्रांत भी है जहाँ पौराणिक धार्मिक स्थलों की भरमार है। सामान्यतः यहाँ तीन धर्मों को मानने वाले लोग हैं, जिनमें दोन्यी पोलो, बौद्ध और ईसाई धर्म प्रमुख हैं। यहाँ हिंदू धर्म के भी अनेक तीर्थ स्थल और मंदिर हैं, जिससे प्रतीत होता है कि अतीत में हिंदू धर्मावलंबियों की भी पहुँच इन क्षेत्रों में थी। भीष्मक नगर, मालिनीयान, आकाशी गंगा और परशुराम कुंड ऐसे धार्मिक स्थल हैं, जहाँ हजारों तीर्थ यात्री हर साल आते हैं। तवांग का बौद्ध मंदिर भव्य और विशाल है जो बौद्ध धर्मावलंबियों का पवित्र धार्मिक स्थल है।

अरुणाचल प्रदेश की लोक जीवनचर्या प्रकृति और जंगल पर आधारित है इसलिए इसमें कृत्रिमता की जगह सहजता अधिक है। वैसे आधुनिकता का प्रभाव भी पड़ने लगा है, फिर भी अभी तक जीवन सरल, सहज और यथार्थपरक है। सामुदायिक सहयोग एक ऐसा विशिष्ट गुण है जो पूरे सामाजिक ताने-बाने को एक सूत्र में बाँधकर जीवन को गतिशील बनाता है। चाहे घर निर्माण हो या शिकार, खेती हो या कोई उत्सव-अनुष्ठान, गाँव के सभी लोग तन-मन से एकजुट होकर सम्पन्न करते हैं।

पशु यहाँ के लोकजीवन का अभिन्न अंग है। गाय, बैल, बकरी, सुअर आदि पालतू पशुओं के अलावा मिथुन (भैंसे के रूपाकार वाला पशु) यहाँ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पशु है। मिथुन अरुणाचल प्रदेश का राजकीय पशु है। मुर्गा, मुर्गी, सुअर और कुत्ते तो घरों में पाले जाते हैं पर गाय, बैल और मिथुन जंगलों में घूम-घूम कर अपना भोजन ढूँढ़ते हैं। इन जानवरों के कान को विशेष आकृति में काटकर एक विशेष प्रकार का पहचान चिह्न बनाया जाता है। इसी चिह्न को

देखकर अपने-अपने परिवार के जानवरों की पहचान की जाती है। यह प्रतीक चिह्न हर घर का अपना अलग होता है।

अरुणाचल प्रदेश की समस्त जनजातियों का एक लेख में संपूर्णता से विवेचन करना संभव नहीं है, अतः यहाँ केवल आदि जनजाति की एक उप-जाति 'गालो' के परिचयात्मक स्वरूप का उल्लेख किया जा रहा है। गालो जनजाति का विस्तार मुख्यतः पश्चिमी शियांग जनपद के अलोंग, बसार, कम्बा दाराक, योमचा, लिकाबाली, गेन्सी, तिरबिन, लिरोमोबा, बागरा, दारिंग क्षेत्रों में है। इस जनजाति के लोगों ने राजनीति, व्यापार, नौकरी, अध्ययन, शिक्षा प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा और कर्मठता का लोहा मनवाया है। सुदूर दुर्गम गाँव साला पोतम के एक व्यक्ति श्री पोर्तिक पोतम का अरुणाचल प्रदेश का पहला शिक्षा निदेशक बनना इस जनजाति की मेधा का प्रमाण है।

अरुणाचल प्रदेश की अर्थव्यवस्था कृषि आधारित है। यहाँ के किसान धान, मक्का, फलों और विभिन्न प्रकार की सब्जियों की खेती करते हैं। धान यहाँ की मुख्य फसल है। धान की खेती दो प्रकार से की जाती है- 'झूम खेती' और 'पानी खेती'। झूम खेती पहाड़ी ढलानों पर जंगल साफ करके की जाती है, जिसमें खुरपी से जमीन खोदकर धान के बीजों को थोड़ी-थोड़ी दूरी पर डाला जाता है, जो नमी पाकर उग जाते हैं। झूम खेती एक जगह पर दो साल से ज्यादा नहीं की जाती। पानी खेती नदियों के किनारे फैले समतल खेतों में मैदानी इलाकों की भाँति धान के पौधों को पानी से भरे खेतों में रोपकर की जाती है। धान पकने पर इसकी बालियों को टूँगकर पौधे से अलग किया जाता है। पौधों को खेत में सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है, जो अगले साल तक सड़कर खेत को पर्याप्त उर्वर बना देते हैं। यहाँ रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग प्रायः बहुत कम किया जाता है। पहले खेतों की जुताई का काम हल-बैलों से लिया जाता था,



लेकिन अब छोटे-छोटे ट्रैक्टरों से जुताई की जाती है। मैदानी इलाकों की भांति यहाँ भी बैल निरुपयोगी और उपेक्षित हो गए हैं। झूम खेती का चावल लाल तथा पकने में कड़ा होता है, जबकि पानी खेती का चावल अपेक्षाकृत सफेद और पकने में नरम होता है। यहाँ का मुख्य भोजन चावल, माँस और मछली तथा जंगल की सब्जियाँ हैं। ओइक, ओइन, मरुसा आदि ऐसे पौधे हैं, जिनके पत्तों को उबालकर सब्जी बनाई जाती है, जिसमें इकू (बाँस के कल्लों का सूखा पाउडर) तथा मिथुन या गाय के सूखे माँस को डालकर उबाला और पकाया जाता है, जिससे वह और अधिक स्वादिष्ट बनता है।



गालो युवती

चाय और अपंग (पोंका) यहाँ का प्रमुख पेय पदार्थ है। दूध मिश्रित चाय की अपेक्षा लाल चाय ज्यादा पसंद की जाती है। अपंग एक बहुत ही महत्वपूर्ण पेय है जो चावल (भात) के साथ धान की भूसी की राख और एक स्थानीय दवा डालकर बनाया जाता है। अपंग यहाँ के लोक जीवन की पहचान और प्रतीक जैसा है। घर में आने वाले हर व्यक्ति को यह चाय आदरस्वरूप बाँस के बने गिलास में दिया जाता है। दरअसल यह चावल की मदिरा है जिसे बच्चे, बूढ़े, जवान युवक-युवतियाँ, औरत और मर्द सभी पीते हैं। सभी प्रकार के समारोह, उत्सव और पूजा में इसका सेवन किया जाता है। 'इकू' भी एक खाद्य पदार्थ है जो सभी प्रकार की सब्जियों में मिलाया जाता है। यह बाँस की नई कोंपलों को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर धूप में सुखाकर तैयार किया जाता है। यह स्वाद में खट्टा होता है। माँस-मछली और अन्य पत्तेदार सब्जियों में इसे मिलाकर उसे स्वादिष्ट बनाया जाता है।

पूरे अरुणाचल प्रदेश में अधिकतर मकान लकड़ी और बाँस से ही बनाए जाते हैं, लेकिन आधुनिकता के प्रभाव तथा प्रगति के नए सोपान पर नवधनाढ्य वर्ग अब अपना घर ईट और सीमेंट से भी बनवाने लगे हैं। शहरों में तो सभी मकान पक्के बनाए जाते हैं पर गाँवों में अभी भी घर कच्चे होते हैं, जो जमीन से 6-7 फुट ऊपर बनाए जाते हैं। इनकी दीवारें बाँस के फट्टों से बुनी होती हैं तथा छप्पर स्थानीय उपलब्धता वाली वनस्पति के पत्तों से बनते हैं। गालो क्षेत्र में ताको पत्ता (ताड़ के सदृश) छप्पर बनाने के काम आता है। हर घर के बीच में चूल्हा जलाने का मुख्य स्थान होता है, जिसके

चारों ओर पर्याप्त जगह छोड़ी जाती है। घरों में खिड़कियों की कोई व्यवस्था नहीं होती लेकिन अब नए तरीके से घर बनाए जाने लगे हैं, जिनमें खिड़कियाँ होती हैं। बाहर बड़ा बरामदा होता है जो खुला, हवादार और रोशनी प्रवण होता है।

अरुणाचल प्रदेश में मुख्यतः तीन तरह की धार्मिक आस्थाएँ देखने को मिलती हैं। 'दोन्यी-पोलो', 'ईसाई' और 'बौद्ध'। दोन्यी-पोलो में दोन्यी का अर्थ है सूर्य और पोलो का अर्थ है चंद्रमा यानी सूर्य-चंद्र के अस्तित्व, उसकी महत्ता और उसकी असीम सत्ता में विश्वास रखने वाले लोग। गालो जनजाति के अधिकांश लोग

दोन्यी-पोलो धर्म को मानने वाले हैं। कुछ अन्य जनजातियाँ भी इस धर्म को मानती हैं। ईसाई मिशनरियों के प्रयास से अनेक लोगों ने इस धर्म को अपनाया है। तीसरी धार्मिक आस्था बौद्ध धर्म की है जो तिब्बत से सटी आबादी में देखने को मिलती है। यहाँ हिंदू धर्म के कई मंदिर हैं लेकिन अनुयायी न के बराबर हैं।

संसार में प्रायः हर समाज और जाति के लोग अपनी विशिष्ट परंपरा के अनुसार वस्त्र धारण करते हैं। इनमें पर्याप्त भिन्नता होती है जो उस समाज/जाति विशेष की पहचान बनती है। अरुणाचल की प्रायः हर जनजाति की अपनी विशिष्ट वेशभूषा है, जो उसकी पहचान, परंपरा और अस्मिता से जुड़ी है। गालो जनजाति के पुरुषों की पारंपरिक वेशभूषा 'हाबे' (लंगोटी) और 'लालिक' (हस्तनिर्मित सामने से खुलने वाला कुर्ता जिसमें बटन का प्रयोग नहीं होता) तथा 'बोलुफ' (बेंत की बनी आकर्षक टोपी) है। स्त्रियों की ब्लाउज तथा 'गाले' (हथकरघे पर बना लुंगीनुमा वस्त्र) तथा पेटीकोट है। पारंपरिक आभूषण में स्त्रियाँ गले में 'तादक' (स्थानीय माला जो बहुमूल्य होती है), हाथों में 'बोमो कोजी' (कड़े), कमर में 'उगी' (करधनी) आदि पहनती हैं। वैसे आधुनिक परिवेश में पुरुष पैंट-शर्ट तथा स्त्रियाँ विशेषतः लड़कियाँ स्कर्ट-ब्लाउज, सलवार और कमीज पहनने लगी हैं। अभिजात्य वर्ग के लोगों में सोने-चाँदी के आभूषणों

अरुणाचल प्रदेश एक जनजातीय बहुल प्रदेश है। इन जनजातियों की अपनी उप-जातियाँ भी हैं। इनमें आदी, निशी, मोंपा, तागिन, इदू, खाप्ती तांगसा, नोक्ते, शिंग्फो, मिशमी, मिजी, वांग्चो, आपातानी, आका, खेवा और हिलमिरी आदि प्रमुख हैं।



के प्रति ललक बढ़ी है। इस क्षेत्र में सोने-चाँदी के आभूषणों के निर्माण व व्यवसाय में नेपाली समुदाय के लोगों का वर्चस्व है।

प्राकृतिक सुषमा से आवेष्टित अरुणाचल की यह देवभूमि नृत्य और गीत की अविरल सलिला बहाती है। यहाँ के कण-कण में नृत्य और गीत समाहित हैं। यहाँ की प्रत्येक जनजाति की अपनी विशिष्ट नृत्य और गीत शैली है जो उस जाति विशेष की पहचान से जुड़ी है। गालो जनजाति का मुख्य नृत्य पोनु है जो विशिष्ट अतिथि के आगमन पर उसके स्वागत में तथा विभिन्न सांस्कृतिक समारोहों तथा त्योहारों पर किया जाता है। इसमें स्त्री-पुरुष, युवक और युवतियाँ पारंपरिक पोशाक पहनकर एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखकर या हाथ में हाथ डालकर नृत्य करते और गीत गाते हैं।

भारतवर्ष की सांस्कृतिक धरोहर की एक पहचान उसकी 'अतिथि देवो भवः' की वह संस्कारपूर्ण अवधारणा है जिसमें घर आए व्यक्ति

को ईश्वर स्वरूप मानकर उसका सेवा-सत्कार किया जाता रहा है। तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले समाज से अतिथि के सेवा-सत्कार का भाव तिरोहित हो रहा है, वहीं गालो जनजाति में अतिथि सत्कार का संस्कार अभी भी प्रगाढ़ता से मौजूद है। यह एक ऐसा गुण है जो यहाँ की जनसंस्कृति का मुख्य बीज तत्व है।

गालो युवक-युवतियों को जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता है। इसमें माँ-बाप या समाज की पूर्व सहमति लेना अनिवार्य नहीं। सास-बहू के झगड़े, बहू का उत्पीड़न, दहेज की त्रासदी जैसी सामाजिक कुरीतियाँ अरुणाचल की किसी भी जनजाति में विद्यमान नहीं हैं। पुरुष सत्तात्मक सामाजिक संरचना होते हुए भी यहाँ स्त्रियाँ अपेक्षाकृत स्वतंत्र और स्वावलंबी हैं जो इस समाज की प्रगतिशील मानसिकता की परिचायक हैं। अरुणाचल की स्त्रियाँ अपने समाज और अर्थव्यवस्था की रीढ़ होती हैं।

लकी स्टोर, ओल्ड मार्केट
अलॉग, वेस्ट शियांग
अरुणाचल प्रदेश-791001
मो. 09436631077

बिहार की लोक चित्रकला

सुबोध कुमार नन्दल

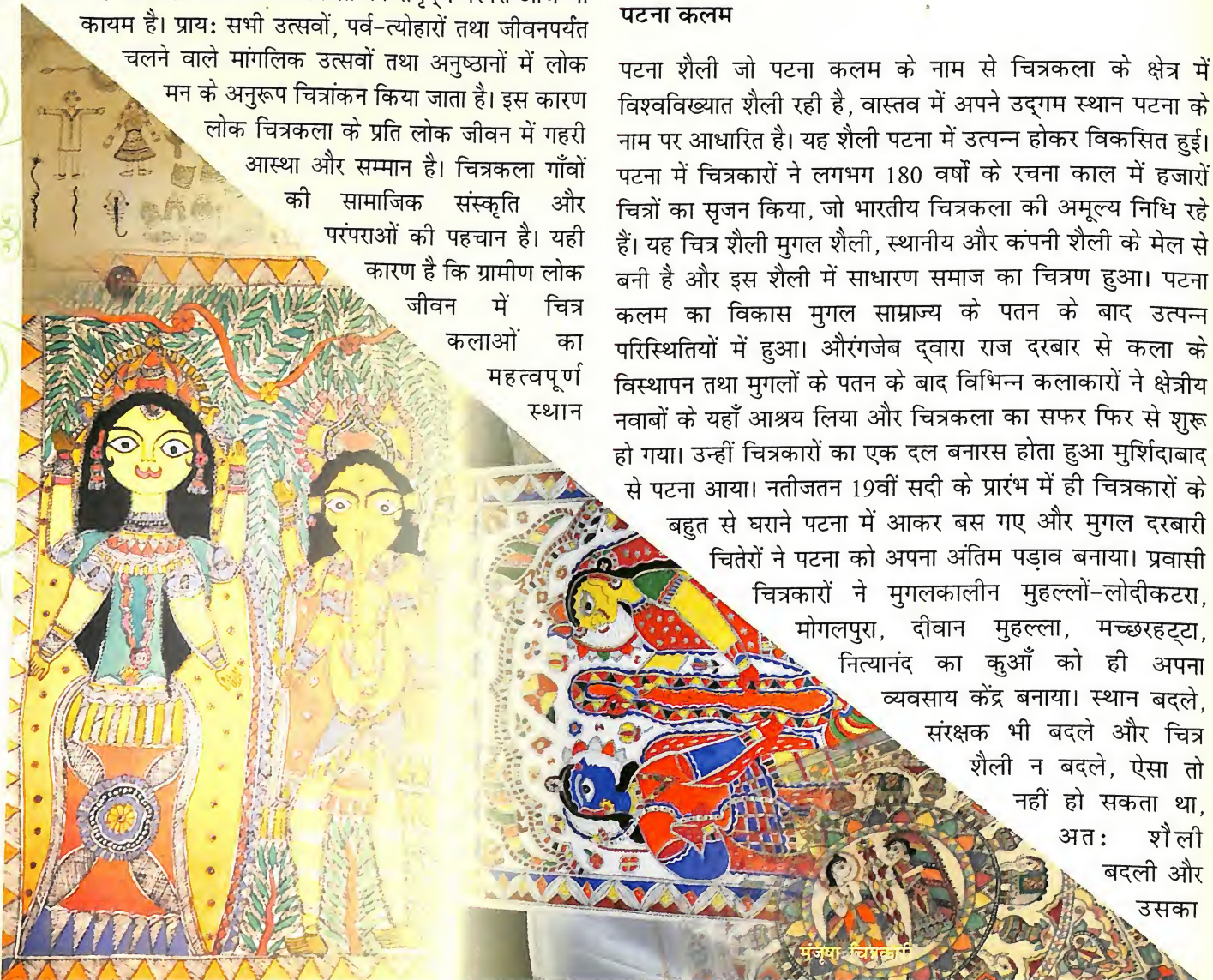


लोक चित्रकला लोक जीवन की देन है। खासकर ग्रामीणों का जीवन ही कला और कला ही जीवन है। जीवन की समग्रता उनके उत्सव, पर्व-त्योहार और उनकी सभी कलाओं में जीवंत है। लोकचित्र, जहाँ लोक आस्था के बोधक हैं वहीं इनमें लोक जीवन के मानसिक भाव, परंपरा एवं मांगलिकता के प्रति निर्मल स्नेह एवं जीवन के उल्लास के साक्षात् दर्शन भी होते हैं। बिहार की लोक चित्रकला की परंपरा यहाँ के लोक जीवन में रची-बसी है। यही कारण है कि यहाँ की लोक चित्रकला की समृद्ध परंपरा आज भी कायम है। प्रायः सभी उत्सवों, पर्व-त्योहारों तथा जीवनपर्यंत चलने वाले मांगलिक उत्सवों तथा अनुष्ठानों में लोक मन के अनुरूप चित्रांकन किया जाता है। इस कारण लोक चित्रकला के प्रति लोक जीवन में गहरी आस्था और सम्मान है। चित्रकला गाँवों की सामाजिक संस्कृति और परंपराओं की पहचान है। यही कारण है कि ग्रामीण लोक जीवन में चित्र कलाओं का महत्वपूर्ण स्थान

है। इन चित्रों को बनाने के लिए कोई निर्धारित नियम नहीं होते हैं। इस तरह की चित्रकला में प्रयोग होने वाले रंग और कूची भी महिलाएं स्वयं तैयार करती हैं। लोक चित्रकला को एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से सीखती है और समय-समय पर शुभ अवसरों पर इसका चित्रण करती है। प्रत्येक क्षेत्र की लोकात्मकता वहाँ की लोक चित्रकला में प्रतिबिंबित होती है। प्रमुख चित्र शैलियों में पटना कलम, माली, मंजूषा, भोजपुरी और मधुबनी चित्रकला हैं।

पटना कलम

पटना शैली जो पटना कलम के नाम से चित्रकला के क्षेत्र में विश्वविख्यात शैली रही है, वास्तव में अपने उद्गम स्थान पटना के नाम पर आधारित है। यह शैली पटना में उत्पन्न होकर विकसित हुई। पटना में चित्रकारों ने लगभग 180 वर्षों के रचना काल में हजारों चित्रों का सृजन किया, जो भारतीय चित्रकला की अमूल्य निधि रहे हैं। यह चित्र शैली मुगल शैली, स्थानीय और कंपनी शैली के मेल से बनी है और इस शैली में साधारण समाज का चित्रण हुआ। पटना कलम का विकास मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उत्पन्न परिस्थितियों में हुआ। औरंगजेब द्वारा राज दरबार से कला के विस्थापन तथा मुगलों के पतन के बाद विभिन्न कलाकारों ने क्षेत्रीय नवाबों के यहाँ आश्रय लिया और चित्रकला का सफर फिर से शुरू हो गया। उन्हीं चित्रकारों का एक दल बनारस होता हुआ मुर्शिदाबाद से पटना आया। नतीजतन 19वीं सदी के प्रारंभ में ही चित्रकारों के बहुत से घराने पटना में आकर बस गए और मुगल दरबारी चित्तेरों ने पटना को अपना अंतिम पड़ाव बनाया। प्रवासी चित्रकारों ने मुगलकालीन मुहल्लों-लोदीकटरा, मोगलपुरा, दीवान मुहल्ला, मच्छरहट्टा, नित्यानंद का कुआँ को ही अपना व्यवसाय केंद्र बनाया। स्थान बदले, संरक्षक भी बदले और चित्र शैली न बदले, ऐसा तो नहीं हो सकता था, अतः शैली बदली और उसका





नाम कंपनी शैली और बाद में पटना शैली या पटना कलम कर दिया गया। पटना (पाटलिपुत्र) उस समय अंग्रेजों का प्रमुख व्यापारिक केंद्र था जिसकी वजह से कला प्रेमियों की कमी यहाँ नहीं थी।

पटना कलम के चित्र लघु चित्रों की श्रेणी में आते हैं, जिन्हें मुख्य रूप से बसली कागज या नेपाली कागज पर बनाया जाता था। इस शैली के मुख्य विषय जनसाधारण के सामान्य जीवन पर आधारित चित्र, जैसे-लकड़ी काटता बढ़ई, मछली बेचती औरत, पालकी उठाए कहार, खेत जोतता किसान, लोहार, एक्कावाला, साधु-संन्यासी, शादी-ब्याह, तीज-त्योहार, पशु-पक्षी, बेल-बूटा दृश्य आदि होते थे। इनमें परंपरागत भारतीय जीवन शैली की अभिव्यक्ति खुलकर हुई है। पटना कलम के चित्रकारों को बारीकी एवं अलंकरण में महारत हासिल थी। इस शैली के चित्रों में चिड़ियों का चित्रण खासतौर पर देखने योग्य है। इस शैली के चित्रों में पृष्ठभूमि एवं लैंडस्केप का कम प्रयोग हुआ है। मनुष्य के चित्रों में ऊँची नाक, भारी भवें, पतले चेहरे, गहरी आँखें और पुरुषों की घनी मूँछें दिखाई गई हैं।

तस्वीरों को बनाने में पेंसिल से खाका बनाकर रंग भरने के बदले ब्रश से ही तस्वीर बनाने और रंगने का काम हुआ है। चित्रों में अधिकतर गहरे हरे, गहरे लाल, हल्के पीले और गहरे नीले रंगों का प्रयोग हुआ है। फूल, फल, वनस्पति, पत्थर और धातुओं से विविध रंग तैयार किए जाते थे। हरताल और रामरस से पीला रंग, लाल सिंदूर, लाख और गेरू से लाल रंग, लाजु पत्थर और नील से नीला रंग, चिराग की फुलियों से काला रंग तैयार किया जाता था। सोना धातु का प्रयोग दो तरह से किया जाता था-एक वर्क के रूप में और दूसरा घोल तैयार करके। पटना शैली के चित्रों में सजीवता और सामान्य जीवन से घनिष्ठ संबंध सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है, जो अन्य शैली के चित्रों

में नहीं पाई जाती है। इसके अलावा रंगों के उपयोग एवं छायांकन के तरीकों में भी स्पष्ट अंतर है।

पटना कलम के चित्रों को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। शैशव काल (1760-1850), उत्कर्ष काल (1850-1900) और गिरावट काल (1900-1940)। मुगल दरबार की शाही शैली से पटना कलम कई आधार पर भिन्नता रखती है। इस शैली के महत्वपूर्ण चित्रकारों में पहला नाम सेवक राम का है। पटना कलम के अन्य मुख्य कलाकार हैं-राय सुल्तान बहादुर, मुंशी ब्रजमोहन लाल, मुंशी बुलाकी लाल राय, दुर्गा प्रसाद, गुरु सहाय लाल, फकीर चंद लाल, गोपाल लाल, राजा झाउमल, हुलाल लाल, जयराम दास, शिव दयाल, शिव लाल, बाबू बुझावन लाल, झुमत लाल, शिव लाल साहिब, मुंशी महादेव लाल, बेनी लाल, जमुना प्रसाद। इस क्रम में ईश्वरी प्रसाद अंतिम महत्वपूर्ण चित्रकार थे। इस कला शैली के पारखी राधामोहन बाबू को पोर्ट्रेट की सर्जना का आचार्य कहा जाता है।

पटना कलम के चित्र जालान संग्रहालय, पटना संग्रहालय, चैतन्य पुस्तकालय, खुदाबख्श ओरियंटल पब्लिक लाइब्रेरी, पटना आर्ट कालेज के अलावा वाराणसी व कोलकाता संग्रहालयों, विक्टोरिया मेमोरियल हॉल, कोलकाता, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली तथा विक्टोरिया अलबर्ट म्यूजियम, लंदन में भी संग्रहित हैं।

माली चित्रकला

माली कला पूर्णिया जिले की लोकप्रिय लोकचित्र शैली है। इस कला



को जीवंत बनाए रखा है यहाँ के मालाकार (माली) लोगों ने। वास्तव में यह पूजित लोकचित्र शैली है जो अंग क्षेत्र (भागलपुर) चित्र शैली मंजूषा से मिलती-जुलती है। इस चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसे पूरा करने में पुरुष, महिलाएं और लड़कियाँ भागीदारी निभाती हैं। चित्रकार इस शैली में बड़े आकार की मंजूषा बनाते हैं। मंजूषा का अर्थ है पेटी या पिटारी जो चौकोर मंदिरनुमा होती है। इस पर आकर्षक और चटकीले रंगों से चित्रकारी की जाती है। यह चित्रण विशेषकर पूर्णिया के गाँवों में दुर्गात्सव के अवसर पर किया जाता है। इसके लिए सबसे पहले बांस की पतली खपच्चियों से मंदिरनुमा ढाँचा तैयार किया जाता है। इसके बाद उस ढाँचे पर कागज चिपकाया जाता है। ढाँचे को आकर्षक और सुंदर बनाने के लिए चटकीले गुलाबी, चमकदार पीले, हरे और काले रंगों का प्रयोग करके चित्रकारी की जाती है। चित्रित मंजूषा को पूरे भक्तिभाव के साथ किसी धार्मिक स्थल या देवी भगवती दुर्गा अथवा जगदंबा के मंदिरों में अर्पित किया (टांगा) जाता है और भक्त माँ से आराधना करते हैं कि वे रोग तथा अन्य प्रकोपों आदि से उन्हें दूर रखें। मंजूषा के एक भाग में माँ भगवती का चित्र बनाया जाता है। अन्य शेष हिस्सों में बाघ, घोड़ा, हाथी और कभी-कभी मोर, कबूतर और हिरण के चित्र बनाए जाते हैं। बाघ को माँ दुर्गा की सवारी के रूप में और हाथी व घोड़ा राजसी प्रतीक के रूप में चित्रित किए जाते हैं। कबूतर को आस्था के रूप में चित्रित किया जाता है।

इस चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मंजूषा ढाँचा बनाने का काम पुरुष और रंग भरने का काम महिलाएं और लड़कियाँ करती हैं। इसके लिए सीमित सामग्री का ही प्रयोग किया जाता है। बकरी के बालों से कूची बनाई जाती है और महिलाएं तथा लड़कियाँ स्वयं रंग तैयार करती हैं। लाल रंग जंगली फूल की पत्तियों से, पीला रंग हल्दी से, काला रंग कालिख से और हरा रंग सेम की पत्तियों से तैयार किया जाता है। मंदिर या काली मंदिर में इन मंजूषाओं को मनवांछित फल माँगने वालों द्वारा देवी को अर्पित किया जाता है। सावन एवं भाद्रपद मास में बनाई जाने वाली मंजूषाओं पर देवी मनसा (जिन्हें नागों की अधिष्ठात्री भी माना गया है) की आकृतियाँ बनाई जाती हैं और तीनों ओर बिहुला विषहरी की लोक गाथा चित्रित की जाती है, जिसमें सर्पों की आकृति के साथ मानव आकृतियाँ भी होती हैं। आकृतियों की नाक सीधी सपाट, गर्दन पतली और लंबी होती है। उंगलियों के लिए सीधी रेखाओं का प्रयोग प्रमुखता से होता है। शेर, हाथी, घोड़ा, कबूतर, मोर, तोता (सुग्गा) आदि पशु-पक्षी की

लोकचित्र, जहाँ लोक आस्था के बोधक हैं वहीं इनमें लोक जीवन के मानसिक भाव, परंपरा एवं मांगलिकता के प्रति निर्मल स्नेह एवं जीवन के उल्लास के साक्षात् दर्शन भी होते हैं।



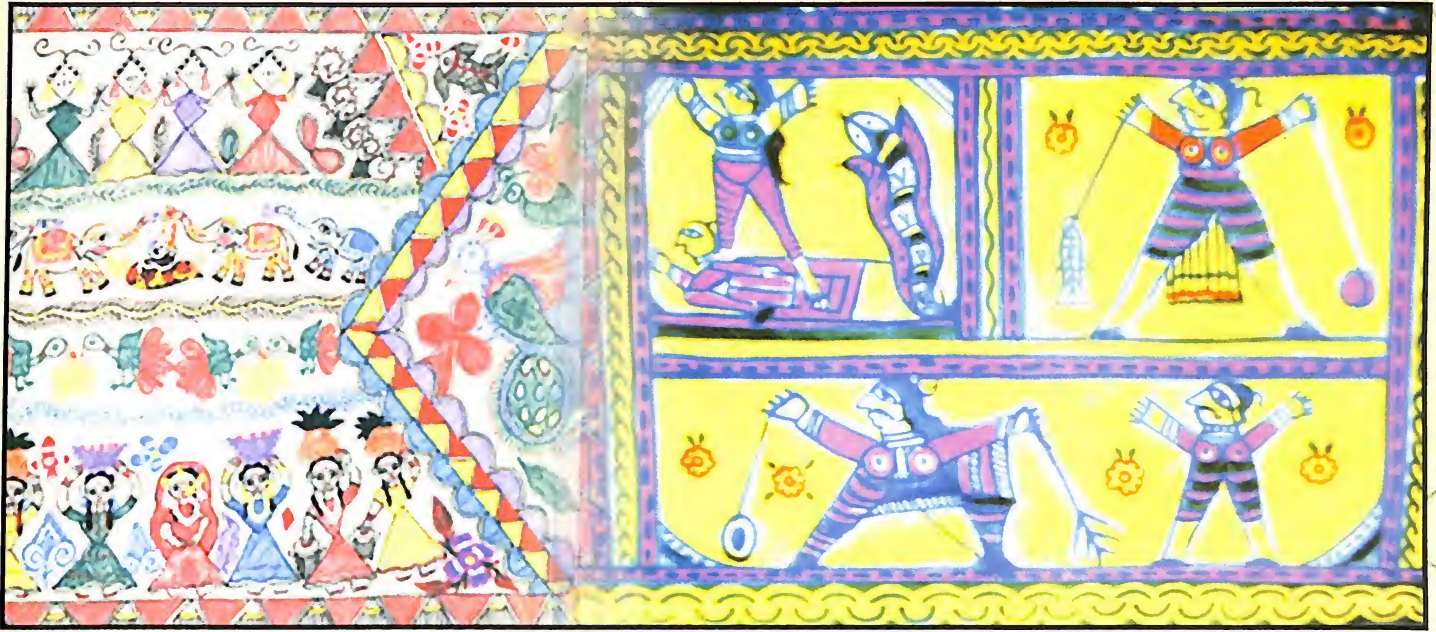
आकृतियों का चित्रों में प्रयोग होता है। ये चित्र पूरी मंजूषा पर बनाए जाते हैं।

मंजूषा चित्रकला

मंजूषा चित्रकला मूल रूप से अंग जनपद (भागलपुर) की एक प्राचीन, पारंपरिक और अनूठी लोक शैली है। यह चित्रकला सांस्कृतिक विरासत का प्रतिनिधित्व करती है। मंजूषा का अर्थ होता है 'सजा हुआ कक्ष' या 'सजी हुई पिटारी'। यह मंजूषा मंदिर के आकार की होती है। ये मंजूषाएं देवी को अर्पित की जाती हैं। इस चित्रकला को कथा चित्रकला भी कहते हैं।

यहां के जन मानस में प्रचलित गाथा के अनुसार, बाला-बिहुला, चांदो-सौदागर आदि के ऐतिहासिक चरित्रों की गौरवगाथा बिहार के अलावा पश्चिम बंगाल व असम तक में श्रद्धाभाव से गाई जाती है। पहले ये चित्र प्राकृतिक रंगों से दीवाल एवं कागजों पर बनाए जाते थे लेकिन अब इसे कैनवास व कपड़ों पर भी बनाया जा रहा है।

सावन एवं भाद्र मास में काफी गर्मी एवं उमस के कारण इस क्षेत्र में सर्पों का प्रकोप बढ़ जाता है। सर्प प्रकोप से मुक्ति पाने के लिए या दमन करने के लिए इस क्षेत्र में देवी विषहरी हैं। मनसा देवी को नागों



की 'अधिष्ठात्री' भी माना गया है।

मंजूषा चित्रकला भी अन्य भारतीय कला शैलियों की तरह रेखा प्रधान है। सनाठी (सनई) की लकड़ियों के आठ पाए लगाए जाते हैं और शोला (कोदला) के माध्यम से मंदिरनुमा ढांचे पर कागज चिपकाकर चित्र लिखे जाते हैं। ये चित्र ही मंजूषा चित्र कहलाते हैं। इस चित्रकला में पारम्परिक चित्रकार द्वारा मुख्य रूप से गुलाबी, पीले, हरे रंगों को प्रमुखता दी जाती है। पहले पारम्परिक प्राकृतिक रंगों का प्रयोग होता था लेकिन अब कच्चे रंगों का प्रयोग किया जाता है।

मंजूषा चित्र में रेखाएं गतिशील होती हैं। हाशिए के लिए लहरदार रेखाओं का प्रयोग किया जाता है। इस शैली के चित्रों में मानवीय आकृति का चित्रण ज्यादातर एक चश्मीय होता है, पर कभी-कभी दो चश्मीय चित्र भी लिखे होते हैं।

मंजूषा कला में प्रयोग होने वाले स्त्री-पुरुष की आकृतियों का मुंह एक ओर बायां पक्ष ही दर्शाया जाता है जिसमें एक आंख ही मालूम होती है, जो आंख, नाक के समीप तथा कभी-कभी चेहरे से बाहर भी निकल जाती है। महिलाओं के बाल घुंघराले और लंबे चित्रित होते हैं। उरोजों के स्थान पर दो गोलाकर आकृतियां, पतली कमर तथा परिधान अलंकृत होते हैं। पुरुष आकृतियों की मूछें लंबी घुमावदार होती हैं तथा हाथ में दंड चित्रित किया जाता है। विषहरी देवी के चित्र अंकन में देवी के दाहिने हाथ में अमृत कलश तथा बाएं हाथ में नाग के चित्र उकेरे जाते हैं। सती बिहुला के चित्रों में खुले बालों वाली स्त्री के सामने मंजूषा या नाग के चित्र बने हुए होते हैं। मोटी रेखा और स्थिर चित्र इसकी खास विशेषता है। रात दिखाने के

लिए चांद और दिन दिखाने के लिए सूरज बनाया जाता है। बार्डर पर गंगा संस्कृति का असर लहरों के रूप में होता है।

भोजपुरी चित्रकला

भोजपुरी लोक चित्रकला की अपनी अलग ही पहचान और परम्परा है। आधुनिक समय में भी भोजपुर इलाके के जनमानस इस कला को जीवंत बनाए रखे हुए हैं। भोजपुर इलाके में विवाह के अवसर पर कोहबर चित्रण की परम्परा अनिवार्य है। कोहबर घर का मतलब होता है ऐसा कमरा जिसमें शादी के बाद दुल्हा-दुल्हन पहली बार मिलते हैं। यानी वर-वधू विवाह के बाद गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं। यहीं विवाह के समय कुल देवता स्थापित किए जाते हैं। इस मौके पर महिलाओं द्वारा कोहबर चित्रांकन की एक ज्यामितीय पद्धति की रेखांकन कला है, जो पूर्णतः धार्मिक मान्यताओं पर आधारित है। इनमें बनने वाले चित्र परम्परागत होते हैं। कोहबर की आकृतियों का उद्देश्य नव दम्पति के भावी जीवन की मंगलकामना के साथ वंश वृद्धि की कामना होती है। कोहबर चित्रण को भोजपुर इलाके में कोहबर लेखन कहा जाता है। कोहबर घर में एक भाग में चित्रकारी की जाती है। इस चित्रांकन के पहले दीवार पर चूना से सफेदी की जाती है। बाद में गेरु से रेखांकन किया जाता है। चित्र में कहीं-कहीं सिंदूर तथा काजल का प्रयोग भी किया जाता है। रेखांकन के लिए बांस की कूची का प्रयोग होता है जिसे महिलाएं स्वयं तैयार करती हैं। कोहबर का आकार वर्गाकार, चतुर्भुजाकार या आयताकार होता है। इसमें धार्मिक आस्थाओं तथा जन-जीवन पर आधारित कुछ प्रतीक चिह्न बनाए जाते हैं। इनमें तोता, बांस, पुरैनपत्ता, स्वास्तिक चिन्ह, कंघी, नालकी-पालकी, कहार, पान पत्ता, लवंग, पंखा, कमल, सुपारी, मछली, कछुआ, देवी-देवताओं की आकृति आदि के

चित्रांकन के प्रचलन हैं। साथ ही वर-वधू का नाम लिखा जाता है। कोहबर में विवाह के दौरान वर-वधू तथा अन्य संबंधियों द्वारा कई प्रकार के रस्म किए जाते हैं।

कोहबर में बनाए जाने वाले विभिन्न चित्रों की महत्ता में विवाह के दौरान दुनिया के सभी जीव-जंतुओं का आह्वान किया जाता है। वे आकर वर-वधू को सफल वैवाहिक जीवन का आशीर्वाद दें। बांस का चित्र कोहबर में खास तौर पर बनाया जाता है जो यह संकेत है कि वर-वधू का वंश बांस की तरह बढ़ता रहे। पुरैन पत्ते कोहबर के सामान्य चित्र हैं। इसका प्रयोग इसलिए किया जाता है कि जिस प्रकार पुरैन का पत्ता लतरनुमा होता है, उसी प्रकार इनके परिवार की वृद्धि हो। कमल का प्रयोग हरि दर्शन के लिए किया जाता है ताकि संसार में रहते हुए संसार से अनासक्त जीवन जीने में ही आनंद मिल सके। सुगं काम के वाहन हैं। कंधी का चित्रांकन शृंगार के लिए किया जाता है। लवंग का प्रयोग शुद्धिकरण तथा वातावरण विशुद्धि के लिए होता है। कोहबर में बने चित्र सिन्होरा से अमर सुहाग की कल्पना की जाती है। नालकी-पालकी का प्रयोग क्रमशः वर-वधू की सवारी के रूप में किया जाता है। मछली के चित्रांकन से उनके पुत्रवान होने की कामना की जाती है और कछुए से वर-वधू के दीर्घायु होने की। काजल का प्रयोग बुरी नजरों से बचाने के लिए होता है। सूर्य-चंद्रमा को जीवन-चक्र तथा उज्ज्वल भविष्य के लिए चित्रित किया जाता है। मांगलिक उत्सवों के अवसर पर हाथी, घोड़ा, पहरेदार को घर के बाहर वाले दरवाजे के दोनों ओर अंकित किया जाता है। वर-वधू को ले जाने के लिए जिस डोली का उपयोग किया जाता है, उस पर मोर, कमल का फूल, मछली, फूल-पत्ता आदि आकृतियों का प्रयोग होता है।

भूमि अलंकरण भी इस इलाके में प्रचलित है जिसे चउका (अरिपन) कहा जाता है। महिलाएं घर के बाहर या देव स्थान (पूजा स्थल) को सबसे पहले गाय के गोबर व मिट्टी से लीपकर चउका के लायक बना लेती हैं। फिर उसके बाद उस पर प्रायः गेहूं के आटे से कमल, मछली, नारियल, शंख, कलश आदि शुभ चिह्नों को बनाती हैं।



मधुबनी पेंटिंग

मधुबनी पेंटिंग से दुनिया भर के कला प्रेमी परिचित हैं। दुनिया में यह अकेली लोक चित्रकला है जिसे महिलाएं ही बनाती हैं। रंगों और आकृतियों के सहारे उन्होंने मानव के आवेगों की निरंतरता को कायम रखा है। मधुबनी चित्रकला का इतिहास लगभग तीन हजार वर्ष का या शायद उससे भी पुराना है। मधुबनी चित्रकला बिहार के मधुबन स्थान से संबंधित है। मधुबन का अर्थ है शहद का वन और यह स्थान राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं के लिए प्रसिद्ध है। मधुबनी की लोक कला में कृष्ण की लीलाओं को चित्रित किया गया है। यह कला मधुबन के आसपास पूरे मिथिला इलाके में फैली हुई है।

मधुबनी चित्रकला की उत्पत्ति की प्राचीनता को वस्तुतः प्रमाणित करने वाले तथ्यों का अभाव तो है किंतु प्राचीन ग्रंथों में इसके वर्णन से यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया जा सकता है कि ईसा से 2000 वर्ष पूर्व जब भारत में भित्ति चित्रकला का आम प्रचलन था, कला जगत में मधुबनी चित्रकला अपना स्थान बना चुकी थी। वाणभट्ट ने हर्ष चरित में इस कला की स्पष्ट चर्चा की है। कहते हैं कि जब लक्ष्मण, राम-सीता के साथ वनवास में थे तब उनकी पत्नी उर्मिला ने दीवार पर उनकी तस्वीर बना कर उनकी पूजा की थी। वैदिक काल में भी इस कला के प्रचलन के पर्याप्त संकेत मिलते हैं।

इस चित्रकला में विभिन्न त्योहार, विवाह, यज्ञोपवीत आदि के अवसरों पर चित्रकारी की परंपरा है। फर्श पर रंगोली बनाई जाती है और दीवारों पर जो चित्र बनाए जाते हैं वे रामायण, महाभारत या अन्य धार्मिक ग्रंथों की प्रचलित कथाओं एवं अन्य ऐतिहासिक कथाओं एवं ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि से जुड़े होते हैं। राधा-कृष्ण व राम-सीता से जुड़ी घटनाओं को इन चित्रों में उकेरा जाता है- कृष्ण का जन्म, गोवर्धन धारण, कंस वध, पूतना वध आदि। पारिवारिक चित्रों में कोहबर बहुत ही प्रसिद्ध है। शादी के बाद जब लड़कियां ससुराल जाती हैं तो विदा से पहले दामाद को कम से कम चार-पांच दिन तक लड़की के यहां रहना पड़ता है। इन दोनों को जिस विश्राम गृह

में रखा जाता है उसे कोहबर कहा जाता है। कोहबर के मुख्य दरवाजों की बाहरी दीवार पर कामदेव व रति आदि के चित्र बनाए जाते हैं। इस चित्रकारी में विविध पेड़-पौधे, जीव-जंतु के चित्र पृष्ठभूमि भरने के लिए बनाए जाते हैं। जीव-जंतु में विशेष रूप से कछुए, मछली, तोता, सिंह आदि के चित्र बनाए जाते हैं। इन चित्रों का प्रतीकात्मक मूल्य होता है। तोता काम के वाहन और बांस वंशवृद्धि के सूचक हैं। सिंह अदम्य शक्ति के, हाथी-घोड़े ऐश्वर्य के, हंस-मयूर शांति के और सूर्य-चन्द्र दीर्घ जीवन के प्रतीक हैं। यक्षिणियां चारों दिशाओं की रक्षिका हैं तो कछुए-मछली आदि सृष्टि के उत्प्रेरक हैं। कोहबर की दीवारों पर देवी-देवताओं के चित्र भी बनाए जाते हैं जिनमें प्रमुखता काली, दुर्गा आदि की होती है।

धार्मिक चित्रों में राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, सीता-राम, विष्णु-काली के चित्र बनाए जाते हैं। लेकिन राधा-कृष्ण की लीला, राम-सीता की कथा और विशेषकर स्वयंवर में जयमाला डालती हुई सीता के चित्रों को अधिक महत्व दिया जाता है।

मधुबनी चित्रकारी में प्राकृतिक रंगों का ही प्रयोग होता है। जैसे अरिपन बनाने के लिए पीसे चावल (पिठार) का प्रयोग होता है। उसी प्रकार सिंदूर से लाल रंग, हरसिंगार के फूल से लाल रंग और चंपई रंग तथा अनार के छिलके से सुनहला रंग प्राप्त किया जाता है। जले हुए जौ को गोबर तथा बेल के लस्से में मिलाकर भी काला रंग बनाया जाता है। रंगों को स्थायी और चमकदार बनाने के लिए उन्हें बकरी के दूध में घोला जाता है। रंग भरने के लिए बांस की बारीक तीलियों एवं उसके सिर पर कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़े को बांधकर तूलिका के रूप में प्रयोग किया जाता है।

पहले मधुबनी चित्रकारी केवल भूमि और दीवारों पर ही की जाती थी, पर 1967-68 के बाद इन चित्रों को कागज पर भी उकेरा जाने लगा। कागज पर बनी कलाकृतियों के पीछे महीन कपड़ा लगा कर इन्हें पारिवारिक धरोहर के रूप में सहेज कर रखा जाता है। यही कारण है कि हर परिवार में मधुबनी कलाकृतियों के आकार, रंग संयोजन और विषय वस्तु में भिन्नता के दर्शन होते हैं। यह भिन्नता ही उस परिवार की विशेषता समझी जाती है।



जिन कलाकारों ने इस लोक शिल्प को कला के शिखर तक पहुंचाया है उनमें गंगा देवी, सीता देवी, शांति देवी, जगदम्बी देवी, महासुंदरी देवी, यशोदा देवी, कौशल्या देवी, भगवती देवी, मैना देवी आदि प्रमुख हैं।

प्रजापति भवन
कंकड़बाग, मेन रोड
पटना-8000020 (बिहार)
मो. : 09430830372

केरल की विशिष्ट नाट्य शैली कथकली

डॉ. मोहनन वी.टी.वी.



कथकली केरल के नाट्यकर्म की उच्चतर विशिष्ट शैली है। संगीत, साहित्य, नृत्य, नाट्य, वाद्य आदि ललित कलाओं का सम्मिश्रण इसमें पाया जाता है। तत्कालीन ग्रामीण कलाओं तथा संस्कृत नाट्य परंपराओं का संपूर्ण सम्मिलन ही कथकली की विशेषता है। इस नाट्य शैली पर कुटियाट्टम, कूतु, शास्त्रकली, अष्टपदियाट्टम, मोहिनीअट्टम, तैयम, तिरा, पटयणी, कोलमतुल्ल आदि कलाओं का प्रभाव है।

कथकली की उत्पत्ति से जुड़ी एक किंवदंती प्रचलित है कि कोषिकोटु के सामूतिरि की रियासत में कृष्णनाट्टम नामक नृत्य रूप प्रचलित था। कोट्टारक्करा के तंपुरान (राजा) ने यह चाहा कि कृष्णनाट्टम की प्रस्तुति उनके अपने महल में हो। सामूतिरि ने इस पर अपनी असहमति प्रकट की। निराश तंपुरान ने बाद में एक नवीन नृत्य कलारूप का आविष्कार किया जिसे रामनाट्टम नाम से जाना जाता है। आज प्रचलित कथकली कृष्णनाट्टम और रामनाट्टम की सुधरी हुई शैली है। इस प्रकार के सुधार अनेक महान व्यक्तियों द्वारा किए गए, जिनमें वेट्टत्तु राजा, कोट्टयम राजा, कल्लट्टिकोट्टु चात्तु पणिककर, कप्पिंगाट्टु नंपूतिरि आदि प्रमुख हैं। रामनाट्टम के कलाकार शृंगार के लिए अपने चेहरे पर हल्दी का चूर्ण और काला रंग लगाने लगे। वाद्य के रूप में चेण्डा का इस्तेमाल



कथकली काठी



कथकली वेशभूषा में नर्तकी

किया जाने लगा। वेट्टत्तु राजा के निर्देशानुसार मंच पर पात्रों का संवाद बोलना बंद कर दिया गया। शृंगार तथा वेश-भूषा आदि में कप्पिंगाट्टु नंपूतिरि द्वारा पच्चा (हरा), कत्ती (छुरी), करी (काला), मिनुक्कु (नाजुक) और ताढी (दाढ़ी) आदि में परिवर्तन किए गए। चात्तुप्पणिककर द्वारा पात्रों के अभिनय में बदलाव लाए गए। कोट्टयम के राजा ने कथकली पद्म में संगीतात्मकता, वेश-भूषा की विभिन्नता आदि के लिए प्रयत्न किया।

यह नृत्य नाट्य कला उन्नीसवीं सदी तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी, लेकिन बीसवीं सदी के प्रारंभ से कथकली का पतन शुरू हो गया। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा, सिनेमा, नाटक आदि का प्रचार-प्रसार इसके मुख्य कारण थे। महाकवि वल्लतोल नारायण मेनन ने कथकली को उच्च स्थान देने के लिए प्रयत्न किया। उनके परिश्रम के फलस्वरूप कथकली का स्थान महत्वपूर्ण बन गया था। महाकवि और राजा मुकुंद के परिश्रमों के फलस्वरूप केरल कलामंडलम् की स्थापना की गई। वल्लतोल के प्रयत्न और सुधारात्मक चिंतन



कथकली पच्चा

प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप आज कथकली देश-विदेश में अपनी पहचान बना चुका है। कथकली के शीर्षस्थ गुरुजन, कलाकार तथा अन्य संघों ने इस विकास यात्रा में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कथकली की शुरुआत सायंकाल के समय 'केलिकोट्टु' से होती है। इससे लोगों तक यह सूचना पहुँचाई जाती है कि कथकली का मंचन प्रारंभ होने वाला है। केलिकोट्टु में कथकली के सभी वाद्योपकरणों (चेण्डा, मद्दलम, चेंगिला, इलत्तालम) का इस्तेमाल किया जाता है। केलिकोट्टु के बाद इष्ट-देवता की स्तुति में 'तोडयम' अनुष्ठानिक नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। तत्पश्चात् स्त्री-पुरुष पात्रों के मंच पर आने से 'पुरप्पादु' आरंभ हो जाता है। उसके बाद 'मेलप्पदम' का गायन होता है। गीत के अनुसार मुद्राभिनय होता है। कथकली का अंतिम कार्यक्रम 'धनाशि' है। इसमें भी नृत्याभिनय के साथ मंगल श्लोकों का गायन होता है।

कथकली पात्रों की वेश-भूषा और शृंगार उनके आचरण के अनुसार होता है। चेहरे पर लगाए जाने वाले रंग और वेशभूषा आदि में अंतर सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों की अवधारणा के आधार पर प्रकट होता है। शृंगार और भूमिका के आधार पर पात्रों के पाँच समूह-पच्चा (हरा), कत्ती (छुरी), करी (काला), ताटी (दाढ़ी) और मिनुक्कु (लाल और पीला) होते हैं। चरित्रवान, धीरोदात्त और

कथकली नाट्य अभिनय एक अत्यंत संपन्न कला है। नाट्य शास्त्र में वर्णित अभिनय की चारों रीतियों-आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक का सम्मिलन इसमें है। आंगिक अभिनय अंग-प्रत्यंगोपांग होता है। शरीर की गति, हस्त मुद्राएं और इशारे इसमें होते हैं।

पौराणिक पात्र-कृष्ण, अर्जुन, नल, धर्म पुत्र, आदि पच्चा वेश समूह के होते हैं। राक्षस राजा, राजसी ठाठ-बाठ और बुराई का समावेश वाले पात्र-रावण, दुर्योधन, कंस आदि कत्ती समूह के, क्रूर, असुर और शिकारी पात्र पुरुष-करी-समूह और शूर्पणखा, पूतना आदि स्त्री-करी-समूह के होते हैं। ताटी समूह के तीन भेद हैं-लाल, सफेद और काला। राक्षस, नीच या दुष्ट पात्र-दुशासन, बकासुर, जटासुर आदि को लाल ताटी समूह में, सात्विक गुणों से संपन्न पात्र हनुमान, नंदिकेश्वर आदि को सफेद ताटी समूह में व 'नालाचरित्र' जैसे नाट्य अभिनय में काली के पात्र को काला ताटी समूह में रखा जाता है। साधारण स्त्री, ऋषि-मुनि और ब्राह्मण पात्र मिनुक्कु समूह के होते हैं। सारथी और संदेशवाहक पात्र भी मिनुक्कु के अंतर्गत आते हैं।

कथकली नाट्य अभिनय एक अत्यंत संपन्न कला है। नाट्य शास्त्र में वर्णित अभिनय की चारों रीतियों-आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक का सम्मिलन इसमें है। आंगिक अभिनय अंग-प्रत्यंगोपांग होता है। शरीर की गति, हस्त मुद्राएं और इशारे इसमें होते हैं। वाचिक में कलाकार द्वारा मंच पर जो भी उच्चारण किया जाता है वह सब वाचिक रीति होती है। आहार्य में मुख-सज्जा तथा रूप-सज्जा अर्थात् शृंगार और पोशाक (वेश-भूषा) आदि को वरीयता दी जाती है। अभिनय की इन चारों रीतियों का समावेश कथकली की विशेषता है। इसमें - 'हस्तलक्षणदीपिका' नामक लक्षण-ग्रंथ के द्वारा निर्देशित मुद्राभिनय होता है। इसके साथ-साथ नाट्य-शास्त्र, अभिनय-दर्पण आदि लक्षण ग्रंथों का सहारा भी लिया जाता है।

चोल्लियाट्टम कथकली का एक हिस्सा होता है, जिसमें नृतक नेपथ्य में गायक द्वारा गाए गए गीत या बोले गए संवाद की लय और ताल की गति के अनुसार हाव-भाव और मुद्राओं के माध्यम से अभिनय करता है। गायक और नृतक दोनों को संगीत, लय और ताल की पूरी जानकारी होती है तथा कथकली की रीतियों, संगीत तथा चोल्लियाट्टम् की क्षमताओं का पूर्ण ज्ञान होता है। कथकली का संगीत भाव-संगीत है। कथकली के संगीत को 'सोपान संगीत' भी कहते हैं। समय के साथ-साथ कथकली के संगीत में अनेक सुधार किए गए हैं।



मुडियेट्टु

कथकली की एक अन्य विशेषता यह है कि उस पर ताल और वाद्य का प्रभाव होता है। इसमें ताल की अहम् भूमिका होती है। वाद्यों के भिन्न भेद होते हैं- तृत्ताला, तिच्चूर, पोन्नानी, पालक्काटु आदि।

कथकली के साहित्यिक रूप को 'आट्टक्कथा' कहा जाता है। आट्टक्कथाएं संगीतात्मक होती हैं। गायकवृंद वाद्यों के माध्यम से आट्टक्कथाएं गाते हैं और कलाकार उन पर अभिनय करके दिखाते हैं। आट्टक्कथा गायक द्वारा कथा को प्रस्तुत किया जाता है जिसके आधार पर कलाकार अभिनय करता है। आट्टक्कथा के गायन के लिए दो गायक होते हैं। पहले मुख्य गायक गाता है और दूसरा गायक उसे दोहराता है। मुख्य गायक को 'पोन्नानि' और दूसरे को 'शिकिटि' कहा जाता है। कथा का विषय भारतीय पुराणों और इतिहास से लिया जाता है। इसमें हरेक पात्र का सौंदर्य निखरता है। अतः इसका उद्देश्य अभिनय का पोषण करना है। आट्टक्कथा में शुद्ध मलयालम के साथ-साथ संस्कृत-मणिप्रवाल श्लोक भी सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक श्लोक पात्र और संदर्भों को सूचित करता है। तत्पश्चात् गायकों द्वारा पदम् का गायन किया जाता है।



कथकली नर्तक शृंगार करते हुए

इस नृत्य शैली में गायकों को स्वेच्छानुसार गायन करने की सुविधा कम होती है। कर्नाटक संगीत में कीर्तन या पद का गायन मात्र एक काल में होता है। कथकली में यह प्रवृत्ति नहीं है। कोट्टयम कथाओं में संगीत की शर्तों का अधिक पालन किया जाता है। सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक मंचन की सुविधा के लिए समय-क्रम और राग-क्रम का पालन किया जाता है।

आट्टक्कथाओं का मलयालम भाषा में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उण्णयि वारियर, कार्तिका तिरुनाल्, कोच्ची के वीर केरल वर्मा, इरयिम्मन तंपी, उत्रम तिरुनाल मार्तण्ड वर्मा आदि प्रतिभा संपन्न महान व्यक्तियों ने आट्टक्कथा साहित्य को सम्पन्न बनाया है। इनमें कोट्टयम कथाओं की अहम् भूमिका रही है, क्योंकि इनकी संगीतात्मकता, विद्वत्ता, कवित्व आदि उच्च कोटि का है। बाद में, नई कथाओं का जन्म भी हुआ। कवयित्रियों की रचनाएं-करुणा, उमाकेरलम, मगदलना मरियम तथा ठाकुर की कृति पर आधारित 'चित्रांगदा' और वल्लत्तोल नारायण मेनन का द्वितीय विश्व युद्ध पर आधारित 'पाप्पुकाट्टालन' आदि इन नई कथाओं के उदाहरण हैं। पाश्चात्य कृतियों के आधार पर भी आट्टक्कथाओं की रचना हुई है।

कथकली के इन सुधारों से नई शैलियों का भी जन्म हुआ। प्रांतीयता के आधार पर विकसित इन शैलियों के दो भेद हैं। पहला दक्षिणी शैली और दूसरा उत्तरी शैली। कोट्टारक्करा तंपुरान द्वारा रामनाट्टम नामक शैली का विकास किया गया। यह प्रथम प्रयास था। वेट्टत्तु राजा द्वारा किए गए सुधारों के आधार पर वेट्टत्तु शैली का प्रादुर्भाव हुआ। कोट्टयत्तु तंपुरान द्वारा कल्लटिक्कोटन शैली का प्रवर्तन हुआ। कल्लटिक्कोटन शैली के प्रादुर्भाव के समय तंपुरान को कोचीन के रामनाट्टम संघ के गुरु चात्तु पणिक्कर की सहायता मिली थी। कप्प्लिंगाटन नंपूतिरि ने चुट्टी और मुद्राओं में सुधारात्मक प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप कप्प्लिंगाटन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। महाकवि वल्लत्तोल ने केरल कला मंडलम में कललुवषी को अपनाया। अब दक्षिणी-उत्तरी भेद मिटता जा रहा है। पुरानी गरिमा को प्राप्त करने के इस प्रयास में कथकली के सभी कलाकारों की जिम्मेदारी बढ़ती जा रही है।

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
सर सईद कॉलेज, तलिपरनू,
कण्णूर, केरल-670142
मो. : 09048449822

विश्व विरासत सांची का स्तूप

डॉ सर्जुन प्रसाद



भारत के प्रमुख बौद्ध स्थलों में साँची का महत्वपूर्ण स्थान है। यह स्थल मध्य प्रदेश के रायसेन जिले में विदिशा से 9 कि. मी. उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग 91 मी. ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। प्राचीन काल में यह स्थल काकणाव, काकनादबोट, बोट श्रीपर्वत आदि नामों से जाना जाता था। यहाँ से प्राप्त बौद्ध स्मारक एवं कला अवशेष तीसरी सदी ई.पू. से बारहवीं सदी ई. तक के हैं। प्रमुख अवशेषों में अशोक स्तंभ, स्तूप, वेदिका, तोरण द्वार, मंदिर, मूर्तियाँ आदि हैं। साँची के स्मारकों को 1989 में विश्व विरासत स्मारकों की सूची में शामिल किया गया है। यहाँ के स्तूप का महत्व इस तथ्य से भी परिलक्षित होता है कि राष्ट्रपति भवन के वास्तु शिल्प में इसका अनुकरण किया गया है, साथ ही भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने अपने प्रतीक चिह्न में साँची के स्तूप एवं तोरण को अंगीकार किया है।

संक्षिप्त इतिहास : प्राचीन काल में साँची एक महत्वपूर्ण राजमार्ग पर स्थित था जिसको ध्यान में रखकर अशोक ने यहाँ स्तूप तथा पाषाण स्तंभ का निर्माण कराया। कालांतर में विदिशा के व्यापारियों की धार्मिक श्रद्धा और सद्भावना के कारण इस बौद्ध स्थल का काफी विकास हुआ। ई. पूर्व दूसरी सदी के मध्य शुंग शासन काल में अशोक के स्तूप के चारों ओर भू-वेदिका, मेधि, सोपान, हर्मिका, मंदिर संख्या-40 तथा स्तूप संख्या-2 और 3 का निर्माण करवाया गया। ई.पू. पहली सदी में सातवाहन शासकों ने स्तूप संख्या-1 और

स्तूप संख्या-3 को तोरणों से सुशोभित किया। इसके बाद यहाँ गुप्त काल में कुछ मंदिरों एवं मूर्तियों का निर्माण किया गया, जिसमें मंदिर संख्या-17 प्रमुख है। 7वीं-8वीं सदी में भी यहाँ कई संधाराम और मंदिरों का निर्माण हुआ, इस अवधि में बड़ी संख्या में बुद्ध मूर्तियाँ भी बनाई गईं। 11वीं और 12वीं सदी में पहाड़ की चोटी के चारों ओर पत्थर की दीवार बनाई गई। 14वीं सदी से 18वीं सदी तक साँची उपेक्षित एवं वीरान अवस्था में रहा।

अन्वेषण एवं संरक्षण : जनरल टेलर ने 1818 ई. में यहाँ के स्मारकों की ओर स्थानीय लोगों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट किया। कैप्टन जॉन्सन द्वारा 1822 ई. में करवाए गए उत्खनन के परिणामस्वरूप स्तूप संख्या-1 में दरार आ गई और भूवेदिका अंशतः गिर गई, वहीं स्तूप संख्या-2 का कुछ भाग नष्ट हो गया। एलेग्जेंडर कनिंघम तथा एफ.सी. मेसी द्वारा 1851 ई. में कराए गए स्तूपों के उत्खनन के दौरान धातु मंजूषाएं मिलीं। कालांतर में एक स्थानीय जमींदार द्वारा अशोक स्तंभ को कोल्हू के रूप में प्रयोग करने के लिए तोड़ दिया गया। 1881 ई. में मेजर कोल ने सर्वप्रथम स्तूप में आई दरारों को भरवाया तथा गिरे हुए तोरण द्वार और भूवेदिका को यथास्थान पुनःस्थापित किया गया। तत्पश्चात 1912-1919 ई. के बीच की अवधि में यहाँ के स्मारकों के संरक्षण, पुनर्निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराने में सर जॉन मार्शल ने भागीरथ प्रयास किया। इसके

अतिरिक्त उन्होंने स्मारकों को रमणीक बनाने के लिए वृक्षारोपण करवाया तथा स्थानीय कलाकृतियों को संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान करने के लिए स्थल संग्रहालय की स्थापना करवाई। मोहम्मद हमीद कुरैशी द्वारा 1936 ई. में कराए गए उत्खनन के परिणामस्वरूप एक बौद्ध विहार का अवशेष प्रकाश में आया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1993-94 ई. में किए गए पुरातात्विक उत्खनन के परिणामस्वरूप मंदिर संख्या-40 की संरचनाएं तथा 24 छोटे-छोटे मनौती स्तूप प्रकाश में आए।

साँची के स्तूपों एवं अन्य स्मारकों को 1 से 51 तक के अंकों में निर्दिष्ट किया गया है, जिसमें प्रमुख निम्नांकित हैं :-

महास्तूप : यह स्तूप सं.-1 के नाम से जाना जाता है। यह अंडाकार महास्तूप त्रिमेधि स्तूप के रूप में है, जिसमें आधार भाग के अतिरिक्त मध्य भाग एवं ऊपरी भाग में मेधि है। इसके शीर्ष पर वर्गाकार हर्मिका के मध्य तीन छत्रयुक्त छत्रावली स्थापित हैं। स्तूप के मध्य चारों ओर एक चबूतरानुमा मेधि है जो प्रदक्षिणा हेतु बनी है। प्रदक्षिणा पथ तक जाने के लिए दक्षिण की तरफ दो सोपान मार्ग बने हैं। आधार भाग की प्रदक्षिणा में प्रवेश के लिए चार मुख्य दिशाओं में एक-एक अलंकृत तोरण द्वार है। स्तूप का व्यास 36.60 मीटर तथा हर्मिका और छत्रावली को छोड़कर इसकी ऊँचाई 16.46 मी. है।

इस महास्तूप का निर्माण मौर्य सम्राट अशोक द्वारा करवाया गया था। मूल रूप से ईंटों से निर्मित इस स्तूप पर प्रस्तर खंडों का आवरण चढ़ाकर स्तूप का आकार शुंगकाल में बढ़ा दिया गया और स्तूप के अंड और मेधि पर मोटा लेप चढ़ाया गया था, जिसके कुछ अंश अंड पर आज भी विद्यमान हैं।

वेदिका : शुंगकाल में ही स्तूप के चारों ओर वेदिका निर्मित की गई। यह अष्टभुजाकार स्तंभों के छिद्रों में सूचियों को फंसाकर बनाई गई है और उन पर ऊपर से मुंडेर या उष्णीष बनी हुई है। निर्माण में सहयोग देने वाले उपासकों के नाम इन सूचियों पर उत्कीर्ण हैं। ऊपरी वेदिका अलंकृत है तथा सबसे नीचे वाली वेदिका तथा हर्मिका की वेदिका साधारण है। स्थापत्य की दृष्टि से यह स्तूप पाषाण में लकड़ी



अशोक स्तंभ का शीर्ष भाग

की वास्तुकला के अनुकरण का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

तोरण द्वार : ई. पू. पहली सदी के मध्य में सातवाहन शासकों ने इस स्तूप की चारों दिशाओं में तोरण द्वार निर्मित किए। इनमें सबसे पहले दक्षिणी तोरण द्वार बनाया गया था। इस पर अंकित लेख के अनुसार यह द्वार राजा शतकर्णिक के शिल्पियों के अग्रणी आनंद की भेंट थी। इस तोरण द्वार के बाएं स्तंभ पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि इनके निर्माता लकड़ी, हाथी दाँत और धातु का काम करते थे। तोरण में चौकोर स्तंभ हैं। उनके शिखर पर चार सिंह, चार हाथी तथा चार बौने (कीचक) बने हुए हैं, जो अपने सिरों पर

कुंडलाकार किनारों वाले तीन वक्र सिरदलों को उठाए हुए हैं। चार चौकोर खंडों से युक्त सिरदलों के बीच तीन-तीन स्तंभ हैं और इनके बीच की खाली जगह में हाथियों और घोड़ों पर सवार मनुष्यों का अंकन है। स्तंभों के शीर्षकों की चौकियों से अंदर की ओर बढ़ी हुई शाल भजिकाओं की मनोहर मूर्तियाँ हैं। सिरदलों के सिरों पर हाथी या शेर की मूर्तियाँ खड़ी हैं।

अलंकरण : इन तोरण द्वारों पर बुद्ध के जीवन से संबंधित जातक कथाओं और तत्कालीन सामाजिक जीवन से संबंधित दृश्यों को उकेर कर आकर्षक बनाया गया है। जातक कथाओं के दृश्य भरहुत की अपेक्षा साँची के दृश्यों में बहुत कम उकेरे गए हैं। यहाँ केवल पाँच जातकों के दृश्य विस्तार से मिलते हैं। वे हैं-छछन्त जातक, महाकपि जातक, महावेसन्तर जातक, अलम्बुस जातक और साम जातक। यहाँ गौतम बुद्ध के जीवन से संबंधित प्रमुख घटनाओं का भी अंकन किया गया है, जिनमें बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् कुशीनगर में उठा विवाद तथा स्मृति अवशेषों का बंटवारा, रामग्राम का स्तूप और अशोक की बोधि वृक्ष दर्शन यात्रा आदि प्रमुख हैं। यहाँ बुद्ध से पहले के छः मानुषी बुद्धों का भी प्रतीकात्मक रूप में चित्रण किया गया है। प्रत्येक मानुषी बुद्ध के लिए बोधि वृक्ष भिन्न-भिन्न हैं- पाटिल, पुण्डरीक, शाल, शिरीष, उदुम्बर तथा न्यग्रोध वृक्ष जो क्रमशः विपश्यीन, पिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि और काश्यप मानुषी बुद्धों को दर्शाते हैं। पश्चिमी तोरण के ऊपरी प्रस्तरपाद के सामने की तरफ अन्य बोधि वृक्षों के साथ नागपुष्प तथा बोधि वृक्ष भी दर्शाया गया है, जो भावी बुद्ध मैत्रेय का प्रतीक है।

जातक कथाओं, तत्कालीन सामाजिक जीवन तथा मानुषी बुद्धों के प्रतीकात्मक रूपों से संबंधित दृश्यों के अतिरिक्त अनेक ऐसे दृश्य

प्राचीन काल में साँची एक महत्वपूर्ण राजमार्ग पर स्थित था जिसको ध्यान में रखकर अशोक ने यहाँ स्तूप तथा पाषाण स्तंभ का निर्माण कराया। कालांतर में विदिशा के व्यापारियों की धार्मिक श्रद्धा और सद्भावना के कारण इस बौद्ध स्थल का काफी विकास हुआ।



भी हैं जिनमें बुद्ध के प्रतीक खाली सिंहासन अथवा स्तूप की पूजा न केवल मनुष्य और देवी-देवता बल्कि पशु भी कर रहे हैं। एक दृश्य में नर-नारी स्वच्छंद विहार कर रहे हैं। तोरण द्वार पर यक्षमूर्तियाँ सुदृढ़ भाव में खड़ी हुई दिखाई देती हैं जो लोक जीवन में प्रचलित यक्ष पूजा की परंपरा को दर्शाती हैं। आम तथा अशोक वृक्ष की शाखाओं को पकड़े हुए स्त्रियों को भी उकेरा गया है। देवी-देवताओं में गज-लक्ष्मी, नाग, इन्द्र आदि का अंकन तोरण द्वारों पर किया गया है। कल्प लता, पुष्प एवं पशु समूह का अंकन भी कलाकरों की अनुभूति और स्वाभाविक अभिव्यक्ति को प्रतिबिंबित करता है। एक दृश्य में सम्राट अशोक को तिष्यरक्षिता के साथ हाथी से उतरते हुए दिखाया गया है। राजा, नागरिक, राजदरबार, नगरों का व्यस्त जीवन, ग्रामीण लोगों का कार्य, जंगली जीवन, युद्ध आदि विषयों को कलात्मक ढंग से उकेरा गया है।

अन्य स्तूप : महास्तूप के अतिरिक्त अनेक स्तूपों के अवशेष यहाँ विद्यमान हैं। इनमें स्तूप संख्या-3 में कनिंघम को बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र और महा मौद्गल्यायन के अस्थि अवशेष मिले थे। इस स्तूप का अलंकरण और विभिन्न अंगों की बनावट तथा शैली, स्तूप सं.-1 के ही सदृश है, परंतु कला शैली की दृष्टि से कुछ कम है। स्तूप सं. 2 : का निर्माण ईसा पूर्व दूसरी सदी के अंतिम चरण में हुआ था। इसमें बौद्ध आचार्यों के शारीरिक अवशेष युक्त धातु मंजूषाएं मिली थीं, जिन पर दस आचार्यों के नाम अंकित थे। इन आचार्यों के नाम हैं-समस्त हेमवतों के आचार्य कासपगोत, मझिम, हारितिपुत्र, गोत का शिष्य वाच्छिय-सुविजायित, महवनाय, आपगिर, कोडिनिपुत, कोसिकिपूत, गोतिपूत और मोगलिपुत। इन मंजूषाओं को

कनिंघम ब्रिटेन ले गए थे, जिन्हें ब्रिटिश संग्रहालय लंदन में प्रदर्शित किया गया था। इन मंजूषाओं को सन् 1956 में ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन से भारत लाया गया। इनमें से एक मंजूषा श्रीलंका सरकार को भेंट की गई और दूसरी मंजूषा को साँची में नवनिर्मित चैत्यगिरि विहार में रखा गया है।

उपरोक्त स्मारकों के अतिरिक्त साँची में अन्य स्तूप, स्तंभ, मंदिर और बौद्ध विहार विद्यमान हैं, जिनमें अशोक का स्तंभ संख्या-10, मंदिर संख्या-17 एवं 18 तथा विहार संख्या-45 एवं 51 पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अशोक स्तंभ पर एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें संघ में विभेद पैदा करने वाले भिक्षु एवं भिक्षुणी को दंडित करने का विधान वर्णित है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साँची भारतवर्ष ही नहीं वरन विश्व के उन विख्यात बौद्ध स्थलों में से एक है जहाँ बौद्ध धर्म से संबंधित महत्वपूर्ण अवशेष विभिन्न स्वरूपों में उपलब्ध हैं जिसके कारण विश्व के कोने-कोने से बौद्ध अनुयायी तथा कला पारखी यहाँ आते हैं।

पुरातत्वविद्
केंद्रीय पुरावशेष संकलन
अनुभाग पुराना किला,
नई दिल्ली-110011
मो. : 9968209571

रवीन्द्रनाथ का जोड़ासांको

डॉ. जलज भादुड़ी



उत्तरी कोलकाता का चितपुर इलाका अब व्यापार का मुख्य केंद्र होने के कारण काफी गहमागहमी से भरा है। घनी आबादी वाले इस क्षेत्र से गुजरने वाली रवीन्द्र सरणी नामक सड़क की दाहिनी ओर द्वारकानाथ ठाकुर लेन की संकरी गली में लाल रंग की एक पुरानी हवेली है। कई पुस्तों से ठाकुरबाड़ी नाम से प्रसिद्ध यह हवेली कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पैतृक मकान था। अब यह रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के नाम से ख्यात है। 1784 में यहाँ एक कच्चा मकान था। कुछ वर्ष बाद पक्की ईंटों का मकान बना। फिर धीरे-धीरे कई बीघा जमीन पर 'ठाकुरबाड़ी' का विस्तार हुआ। यह कल्पना करना कठिन है कि दो सौ वर्ष पहले ठाकुरबाड़ी का स्वरूप कैसा था।

ठाकुरबाड़ी का चित्रात्मक वर्णन

226 साल पहले की इस कोठी का वर्णन 'अवनीन्द्रनाथ ठाकुर' की पुस्तक 'जोड़ासांको धारे' में मिलता है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ऊंची दीवारों से घिरी ठाकुरबाड़ी के प्रांगण में दो-तीन मंजिला अट्टालिकाएँ थीं। एक में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर अपने परिवार सहित रहते थे और दूसरे में उनके भाई गिरीन्द्रनाथ का परिवार रहता था। दो भवन भिन्न होने पर भी परिवार एक था। लोहे के विशाल फाटक पर उत्सवों के दौरान 'एकमेवाद्वितीयम' लिखा रहता था, जो आज भी है। हवेली के दो भाग थे- 'अंदर महल' और 'बाहरी महल'। इनके कई उप-भाग थे। यथा-भिडिखाना, तोसाखाना, बाबर्चीखाना, नौबतखाना, दफ्तरखाना, बैठकखाना, गाड़ीखाना, कचहरी, पाठशाला, नाट्यशाला, नाचघर, पूजाघर, रसोईघर, गोलाबाड़ी, गौशाला, अस्तबल, दालान, देहरी और भी कई छोटे-मोटे भाग थे। पिछवाड़े में सब्जियों का बहुत बड़ा बाग था, पोखर थी और घर के नौकरों के मकान थे। यहाँ राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, जगदीशचंद्र बसु, बंकिमचंद्र चटर्जी, राजनारायण बसु, बंगाल के और भी कई शिरोमणि स्वरूप विशिष्ट विद्वान, राजनेता, साहित्यकार एकत्र होकर देश के शैक्षिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक उत्थान पर विचार-विमर्श करते थे। जोड़ासांको के सभा कक्षों में होने वाली घरेलू सभाओं में साहित्यिक चर्चाएँ होती थीं, नवीन काव्यात्मक कल्पनाओं की उद्भावना होती थी और संगीत के नए राग-रागिनियों की भी खोज होती थी। लंबे गलियारों और बरामदों में चित्रकला का अभ्यास होता था। विशाल



कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर

छत और आँगन में नाटकों का मंचन होता था, प्रांगण में वैदिक मंत्र गूँजते थे, उत्सवों के दौरान देश के विशिष्ट लोगों का जमघट होता था।

आज का स्वरूप

आज यहाँ विद्यार्थियों की भीड़ दिखाई देती है। कुछ कमरे फाइलों से भरे पड़े हैं तो कई क्लासरूम बन चुके हैं। 'विचित्र भवन' में आर्ट गैलरी है और इसमें स्थित कचहरी पुस्तकालय का रूप धारण कर चुकी है। 'महर्षि भवन' में एक प्रदर्शन शाला है जो मात्र स्मृति चिह्नों का संग्रह है। 'बैठकखाना' का अब नामोनिशान नहीं है। जो भवन देश-विदेश के चित्रकारों के लिए तीर्थस्थान था और जहाँ

भारतीय चित्रकला की आधुनिक शैली का विकास हुआ था, उसकी एक तस्वीर भी बहुत ढूँढ़ने पर 'ठाकुरबाड़ी' के संग्रहालय में नहीं मिलती। केवल हरी घास से युक्त एक लॉन ही देखकर मन में यह सोचकर संतोष करना पड़ता है कि यहाँ कभी 'बैठकखाना' था। मुख्य भवन के काफी अंश ढह गए हैं, जो शेष हैं, उन्हें नए ढंग से सजाया गया है। 'ठाकुरबाड़ी' का हरा-भरा बाग उजड़ चुका है और उसके स्थान पर कई नए विशाल भवन निर्मित हुए हैं-संगीत भवन, रवीन्द्र भारती सोसाइटी भवन, प्रशासनिक भवन, रवीन्द्र मंच आदि। पिछवाड़े की अधिकांश जमीन बिक चुकी है, वहाँ अब कंक्रीट का जंगल है। तबकी 'ठाकुरबाड़ी' और अबकी 'ठाकुरबाड़ी' में काफी अंतर है।

हवेली का शिलान्यास

वह क्षण निश्चित रूप से ऐतिहासिक क्षण था, जब नीलमणि ठाकुर ने 'ठाकुरबाड़ी' की नींव रखी थी। सन् 1757 में पलासी की ऐतिहासिक लड़ाई में सिराजुद्दौला की हार के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने धीरे-धीरे पूरे भारत पर कब्जा कर लिया। कलकत्ता नए शासक वर्ग की राजधानी बनी। इसके साथ ही यह राजनीतिक उथल-पुथल का केंद्र भी बन गई। इसके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में तीव्रगति से परिवर्तन होने लगे। कुछ लोग अंग्रेजी सीखकर ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी करने लगे। ऐसे लोगों में से नीलमणि ठाकुर भी थे।

नीलमणि को कंपनी की नौकरी के सिलसिले में कई वर्ष ओडिशा में बिताने पड़े। कंपनी की नौकरी के दौरान उन्होंने काफी धन कमाया जिसे वे अपने भाई दर्पनारायण ठाकुर को नियमित रूप से भेजते थे। दर्पनारायण ने उस धन को अपने व्यापार में लगाकर काफी धन कमाया। नौकरी से अवकाश पाकर जब नीलमणि अपने घर लौटे



जोड़ासांको की बैठक



जोड़ासांको में महर्षि देवेंद्र नाथ ठाकुर की प्रतिमा

और भाई से अपना हिस्सा माँगा, तो दर्पनारायण मुकर गए। साफ कह दिया कि उन्हें नीलमणि से एक कौड़ी भी कभी नहीं मिली। नीलमणि यह सहन नहीं कर सके। वे तुरंत कुलदेवता की मूर्ति को साथ लेकर परिवार सहित पाथुरिया घाट स्थित अपने पैतृक मकान से निकल गए। बिल्कुल निस्सहाय होकर आश्रय की खोज करने वाले इस ब्राह्मण को अंततः एक नीच जाति के घर में आश्रय मिला। अंततः ब्राह्मण की दुर्दशा देखकर एक धनी वस्त्र व्यापारी 'वैष्णव चरण सेठ' का हृदय पसीज उठा और उन्होंने निराश्रित नीलमणि ठाकुर को घर बनाने के लिए जोड़ासांको में एक बीघा जमीन दी। नीलमणि ने इस जमीन पर 1784 में नए मकान की नींव रखी। कुछ ही वर्षों में यही मकान 'ठाकुरबाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही ठाकुरबाड़ी 19वीं सदी में भारतीय पुनर्जागरण का प्राण केंद्र बना। लगभग दो शताब्दी तक इसने बंगाल के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक परिवेश को आंदोलित किया।

नव संस्कृति की पहल

ठाकुरबाड़ी की सांस्कृतिक गौरवगाथा, द्वारकानाथ ठाकुर से आरंभ होती है। 1714 में द्वारकानाथ ने नीलमणि ठाकुर के पुत्र राममणि ठाकुर के घर जन्म लिया था। द्वारकानाथ बहुमुखी प्रतिभा संपन्न थे। वे ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतर्गत 1818 में चौबीस परगना के

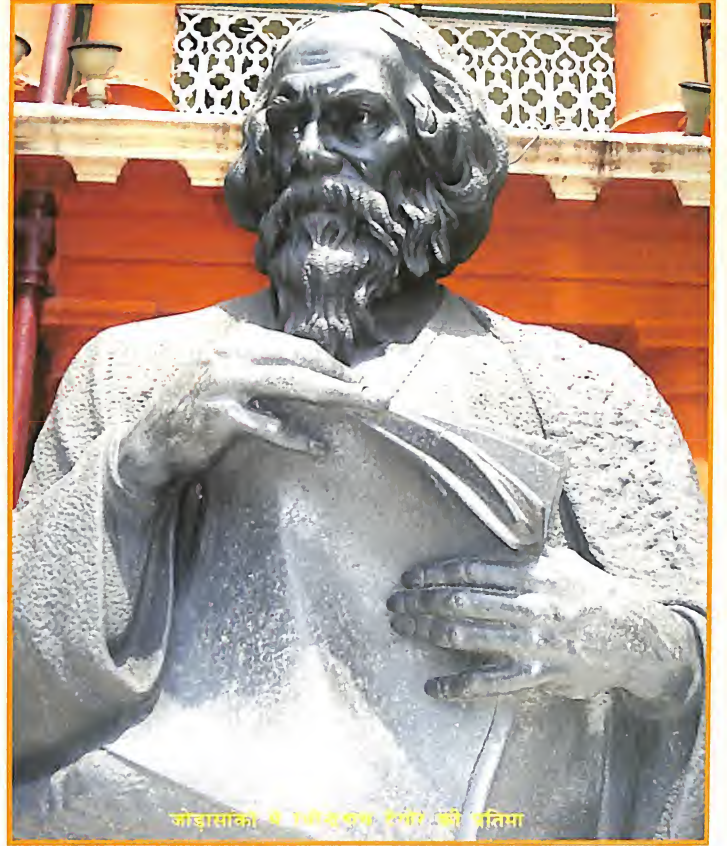
कलेक्टर के दीवान, 1823 में निमक महल के दीवान, 1829 में शुल्क, नमक, अहिफेन बोर्ड के दीवान नियुक्त हुए थे। उस समय भारतीयों के लिए यह सर्वोच्च सम्मान था। लंबे समय तक महत्वपूर्ण सरकारी जिम्मेदारियों का पालन करते हुए उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले आर्थिक स्वतंत्रता आवश्यक है।

सरकारी काम करते हुए ही उन्होंने निजी व्यवसाय भी शुरू किया। द्वारकानाथ ही पहले बंगाली थे जिन्होंने देश में उपलब्ध व्यापार की सभी सुविधाओं का भरपूर उपयोग किया। कारोबार करते हुए उन्होंने एक बैंक की आवश्यकता महसूस की ताकि जिस पैसे को विदेशी लूटकर ले जा रहे थे उस पैसे को रोका जा सके और वह पैसा व्यापार के लिए देशी व्यापारियों को मिले। 17 अगस्त, 1829 को उन्होंने 16 लाख रुपए मूलधन के रूप में नियोजित कर 'यूनियन बैंक' की स्थापना की। उनके अथक परिश्रम से 1838 में इस बैंक का मूलधन बढ़कर 40 लाख रुपए हो गया और 1839 में यह 2 करोड़ हो गया। स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने के लिए द्वारकानाथ ने 1834 में कंपनी के पद से इस्तीफा दे दिया। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड बैटिक ने उनका परिचय 'विलियम कार' नामक एक अंग्रेज व्यापारी से करवाया और बैटिक के प्रोत्साहन से द्वारकानाथ ने दस लाख रुपए का निवेश कर 1834 में 'कार-ठाकुर कंपनी' की स्थापना की। इस कंपनी के अंतर्गत कई जिलों में वृहत जमींदारी, सियालदह में नील का व्यापार, असम में चाय का व्यापार, कुमारखाली में रेशम का व्यापार, रामनगर में चीनी का कारखाना, खिदिरपुर में जहाज मरम्मत का कारखाना, स्टीमर कंपनी, रानीगंज में बंगाल कोल कंपनी आदि कई तरह के व्यवसाय शुरू किए गए थे। भारत में सर्वप्रथम कोयले की खान से कोयला उत्पादन करने के लिए कोल कंपनी की स्थापना और जल परिवहन के लिए स्टीमर कंपनी की स्थापना का श्रेय द्वारकानाथ को जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम असम की चाय को विश्व बाजार में लोकप्रिय बनाया था। व्यापार से उन्होंने इतना धन कमाया कि भारत और यूरोप में अंग्रेज उन्हें प्रिंस द्वारकानाथ कहते थे।

आधुनिक शिक्षा की पहल

द्वारकानाथ बांग्ला, संस्कृत, अरबी, फारसी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा और साहित्य के भी पंडित थे। सरकारी पदों पर काम करने के दौरान वे इस सत्य को अच्छी तरह समझ चुके थे कि जब तक अंग्रेज इस देश में हैं तब तक अंग्रेजी के बिना देश की उन्नति संभव नहीं है।

घनी आबादी वाले इस क्षेत्र से गुजरने वाली रवीन्द्र सरणी नामक सड़क की दाहिनी ओर द्वारकानाथ ठाकुर लेन की संकरी गली में लाल रंग की एक पुरानी हवेली है। कई पुस्तों से ठाकुरबाड़ी नाम से प्रसिद्ध यह हवेली कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पैतृक मकान था।



अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही भारतीय, यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान से परिचित हो सकेंगे। 1814 में उनका परिचय राजा राममोहन राय से हुआ। राममोहन उनसे बाईस वर्ष बड़े थे, लेकिन विचारों में समानता के कारण दोनों में शीघ्र प्रगाढ़ मित्रता हो गई। राजा राममोहन राय भी अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। द्वारकानाथ ने उन्हें हिंदू कालेज की स्थापना का प्रस्ताव दिया, लेकिन यह कार्य सहज नहीं था। अंग्रेज भारत में अंग्रेजी शिक्षा के खिलाफ थे। 1712 में जब लार्ड कार्नवालिस को अंग्रेजी शिक्षा का प्रस्ताव मिला, तब ईस्ट इंडिया कंपनी के सदस्यों ने अपनी अनिच्छा जाहिर करते हुए उन्हें सचेत किया था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण ही अमेरिका में स्वाधीनता की चेतना विकसित हुई और उन्हें अमेरिका से हाथ धोना पड़ा। यदि वे इस गलती को भारत में दोहराएंगे तो यहाँ भी देश के शिक्षित लोग विदेशी आदर्शों से प्रभावित होकर विदेशी साम्राज्य से अलग होने के लिए स्वाधीनता आंदोलन कर सकते हैं। अतः भारतीयों को आधुनिकता की हवा नहीं लगनी चाहिए। इसी बीच राजा राममोहन राय और द्वारकानाथ का परिचय डेविड हेयर नामक एक स्कॉच व्यापारी से हुआ। उसने इस मामले में उनकी बहुत मदद की। जनता से चंदा लेकर हिंदू कॉलेज की स्थापना का निर्णय लिया गया। मुक्तहस्त से दान करने वालों में द्वारकानाथ भी थे। द्वारकानाथ, राममोहन राय, राधाकांत देव और डेविड हेयर के प्रयत्नों से 10 जनवरी 1817 में हिंदू कॉलेज की स्थापना हुई।

प्रारंभिक-चिकित्सा विज्ञान

शिक्षा के क्षेत्र में द्वारकानाथ का एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान है-कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना। उस समय कलकत्ता में आधुनिक चिकित्सा पद्धति के अध्ययन की व्यवस्था नहीं थी। हिंदू कॉलेज और मदरसा के चिकित्सा विभाग में प्राच्य चिकित्सा पद्धति की शिक्षा दी जाती थी। द्वारकानाथ ने आधुनिक चिकित्सा पद्धति की शिक्षा के लिए एक मेडिकल कॉलेज स्थापित करने का प्रयत्न किया। लार्ड बैटिक के आदेशानुसार सन् 1835 में कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना हुई।

समाज सुधार : नारी मुक्ति

शिक्षा में सुधार के साथ-साथ द्वारकानाथ ने समाज-सुधार पर भी ध्यान दिया। वास्तव में राजा राममोहन राय और द्वारकानाथ के सम्मिलित प्रयत्नों से ही सती प्रथा विषयक कानून पास हुआ था। राममोहन राय ने 1818 में लार्ड हेस्टिंग को पत्र लिखकर इस बर्बर प्रथा को बंद करने की अपील की थी। अंग्रेज स्वयं इस घृणित प्रथा के खिलाफ थे, लेकिन उन्हें भय था कि उनके हस्तक्षेप किए जाने के कारण कहीं हिंदू समाज में विद्रोह पैदा न हो जाए, अतः सरकार ने 1805 से लेकर 1828 तक इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया। राममोहन राय ने सरकार को बार-बार समझाने का प्रयत्न किया कि सती प्रथा हिंदू शास्त्र सम्मत प्रथा नहीं है। अतः इसे बंद करने पर प्रजा में विद्रोह नहीं होगा। राममोहन राय ने भारत के गवर्नर जनरल बनकर आए लार्ड बैटिक का ध्यान भी इस समस्या की ओर आकर्षित किया। द्वारकानाथ ने लार्ड बैटिक के साथ अपनी मित्रता का पूरा फायदा उठाया। इससे बैटिक को नैतिक बल मिला और 4 दिसम्बर 1829 को सती प्रथा को रोकने के लिए उन्होंने कानून पास किया।

ललित कला का विकास

संगीत के साथ-साथ भारतीय चित्रकला के विकास में भी 'ठाकुरबाड़ी' ने योगदान दिया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय कला की अपनी चित्रशैली नहीं थी। प्राचीन चित्रकला का हास हो चुका था। पाश्चात्य चित्रकला ही चित्रकारों का आदर्श बन चुकी थी। इस समय भारतीय चित्रकला को आधुनिक शैली में विकसित करने का श्रेय देवेन्द्रनाथ ठाकुर के भाई के तीन पुत्रों-अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर और समनेन्द्रनाथ ठाकुर को जाता है। ठाकुरबाड़ी के जिस मकान में ये तीनों भाई रहते थे, वह चित्रकारों का तीर्थ केंद्र बन गया था। देश-विदेश के विशिष्ट चित्रकार यहाँ एकत्रित होते थे। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की एक शिष्य-मंडली बनी जिसमें नंदलाल बसु, सुरेन्द्रनाथ कर, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, असित कुमार हालदार, शैलेंद्रनाथ डे, क्षितीन्द्रनाथ मजुमदार जैसे विशिष्ट

चित्रकार शामिल थे। गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने सर्वप्रथम व्यंग्य चित्रों का प्रचलन किया। ज्योतिरिन्द्र नाथ ने रेखाचित्रों का प्रचलन किया और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन और नवीन, प्राच्य और पाश्चात्य चित्रकला का समन्वय कर एक नई चित्रशैली को जन्म दिया, जो पूर्णतः भारतीय थी और आधुनिक भावनाओं के अनुकूल थी। कलाकारों को प्रोत्साहित करने के लिए ठाकुरबाड़ी में 'विचित्र क्लब' की स्थापना हुई। गगनेन्द्रनाथ और अवनीन्द्रनाथ के प्रयत्नों से इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरियंटल आर्ट नामक संस्था की भी स्थापना हुई। यह संस्था हर वर्ष चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन करती थी, जिसमें अवनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ और अवनीन्द्रनाथ की शिष्य मंडली के चित्रकारों के अतिरिक्त अन्य कई चित्रकारों के चित्र पेश किए जाते थे।

नारी शिक्षा

नारी शिक्षा के प्रसार में भी 'ठाकुरबाड़ी' ने अग्रणी भूमिका निभाई। सत्येन्द्रनाथ ठाकुर नारी शिक्षा और नारी स्वाधीनता के पक्षधर थे। पर्दा-प्रथा को तोड़कर नारी को खुले माहौल में ले आने का काम उन्होंने अपनी पत्नी ज्ञानदानदिनी से करवाया। ज्ञानदानदिनी की मानसिकता आधुनिक थी। पर्दा प्रथा को तोड़कर वे अपने पति के



जोड़ासांको का भीतरी भाग

साथ अंग्रेजों की पार्टियों में सम्मिलित होती थीं। उन्होंने अपने पति के साथ यूरोप की यात्रा भी की थी। 19 वीं सदी के प्रारंभ में भारतीय नारी के लिए यह बहुत क्रांतिकारी कदम था। इस परिवार के एक और सदस्य हेमचन्द्रनाथ ठाकुर ने नारी-शिक्षा का व्रत लिया था, बाल-विवाह रोकता था, परिवार की सभी स्त्रियों को इन्होंने शिक्षित किया था। इस परिवार की स्त्रियाँ न केवल मंच पर अभिनय के लिए उतरीं, बल्कि उन्होंने कई पत्रिकाओं का संपादन भी किया, कई ग्रंथों की रचना की। देवेन्द्रनाथ ठाकुर की पुत्री स्वर्णकुमारी तथा प्रतिभादेवी बांग्ला साहित्य की प्रथम महिला उपन्यासकार थीं। स्वदेशी आंदोलन के विकास में भी 'ठाकुरबाड़ी' की स्त्रियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। प्रतिभा देवी संगीत निर्माण में कविगुरु का दाहिना हाथ कहलाती थी।

पाश्चात्य संस्कृति के संपर्क में आने के फलस्वरूप जो संस्कृति भारत में विकसित हुई थी, वह दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने के कारण एक नवीन संस्कृति बनी। आधुनिक चेतना को वहन करने वाली इस संस्कृति का पूर्ण विकास ठाकुर परिवार में हुआ। 19वीं सदी के पूर्वार्ध में द्वारकानाथ, 19वीं सदी के उत्तरार्ध में देवेन्द्रनाथ और 20वीं सदी के पूर्वार्ध में रवीन्द्रनाथ इस परिवार के मुखिया थे। द्वारकानाथ ने नवजागरण की पृष्ठभूमि के निर्माण में सहयोग दिया, देवेन्द्रनाथ और उनके परिवार ने नवजागरण के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का पालन किया और रवीन्द्रनाथ के नेतृत्व में बंगाल में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, साहित्यिक आंदोलन ने पूर्णता प्राप्त की।

बांग्ला प्रेम

20 वीं सदी का पूर्वार्ध बांग्ला साहित्य में रवीन्द्र युग कहलाया। रवीन्द्र काव्य-चेतना, रवीन्द्र चिंतन-धारा, रवीन्द्र शिक्षा पद्धति, रवीन्द्र संगीत, रवीन्द्र नाटक, रवीन्द्र अभिनय शैली, रवीन्द्र नृत्य शैली, रवीन्द्र चित्र शैली आदि ने लगभग आधी शताब्दी से भी अधिक काल तक बंगाल के साहित्यिक, सांस्कृतिक परिवेश को आंदोलित किया था। किंतु रवीन्द्र युग में साहित्यिक, सांस्कृतिक, गतिविधियों का केंद्र ठाकुरबाड़ी न होकर शांतिनिकेतन था। 1901 में शांतिनिकेतन में आश्रम की स्थापना हुई। उनके भाई और परिवार के अन्य सदस्य चले गए। सबके सम्मिलित सहयोग से शांतिनिकेतन का आश्रम विश्वविद्यालय में तब्दील हुआ, किंतु दो सौ साल से भी

रवीन्द्रनाथ को उत्तराधिकार में और पुरस्कारों के रूप में जो कुछ मिला था, उसका उपयोग उन्होंने शांतिनिकेतन में आश्रम निर्माण में किया था। आश्रम को चलाने में उन्हें घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति को बेच दिया। यहाँ तक कि पत्नी के गहने भी बेचने पड़े।



अधिक पुराना ठाकुरबाड़ी ढहने लगा।

द्वारकानाथ अपने वंशजों के लिए जो अपार धन-राशि छोड़ गए थे, उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि उनके वंशजों की व्यापार में रुचि नहीं थी। परिवार में उत्तरोत्तर जनसंख्या वृद्धि और मुख्य परिवार के कई शाखाओं, उप-शाखाओं में बंटने के कारण संचित धन-राशि अनेक लोगों में बंट गई। हवेली का भी बंटवारा हुआ। फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ के जीवनकाल में भी आर्थिक अभाव के कारण ठाकुरबाड़ी के संरक्षण की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया। रवीन्द्रनाथ को उत्तराधिकार में और पुरस्कारों के रूप में जो कुछ मिला था, उसका उपयोग उन्होंने शांतिनिकेतन में आश्रम निर्माण में किया था। आश्रम को चलाने में उन्हें घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति को बेच दिया। यहाँ तक कि पत्नी के गहने भी बेचने पड़े। ठाकुरबाड़ी के संरक्षण के लिए उनके पास धन नहीं था। इसलिए ठाकुरबाड़ी के कुछ हिस्सों को बेचने की शुरुआत हुई। कीमती फर्नीचर और अन्य सामान पहले ही बिक चुके थे। अरुणोद्भवाथ और उनके भाइयों ने अपना हिस्सा बेच दिया। देवेन्द्रनाथ भी ऋण के बोझ के कारण अपना हिस्सा बेचने के लिए विवश हुए। कुछ परिवारों ने अर्थाभाव के कारण कमरों को कई भागों में बाँटकर किराए पर दिया। प्रांगण के सामने स्थित कमरे दुकानदारों को दिए गए और भीतर के कमरों में कारखाने स्थापित हुए। इस प्रकार 'ठाकुरबाड़ी' नाना प्रकार के अवांछित लोगों का अड्डा बन गया। प्राणवंत उत्सवमुखर हवेली प्राणहीन खंडहर बन गई।

मृत्यु के कुछ दिन पहले रवीन्द्रनाथ अपने इलाज के लिए कलकत्ता आए थे। इसी हवेली में उन्होंने अंतिम सांस ली। उनकी मृत्यु के बाद शोकविह्वल बंगाली समाज का ध्यान 'ठाकुरबाड़ी' की ओर गया। अपने प्रिय कवि के स्मृतिचिह्न को सुरक्षित रखने के लिए सामूहिक



बीडालकी का अंगन

प्रयत्न आरंभ हुआ। आनंद बाजार पत्रिका के संस्थापक सुरेशचंद्र मजूमदार ने जनता के प्रयत्नों को संगठनात्मक और रचनात्मक रूप देने के लिए 1941 में अखिल भारतीय स्मृति रक्षा समिति की स्थापना की। देश के कई विशिष्ट लोग समिति के सदस्य बने। 31 जनवरी, 1945 को सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक जनसभा में 'ठाकुरबाड़ी' के संरक्षण के लिए आम जनता से आर्थिक सहायता मांगी गई। जनता ने मुक्तहस्त से दान दिया। नतीजतन समिति के पास 15 लाख रुपये एकत्रित हुए। इसके अतिरिक्त कई राज परिवारों और संभ्रांत परिवारों की वधुओं ने अपने मूल्यवान गहने दान में दिए थे, जिनका मूल्य उन दिनों सात लाख रुपये था।

रवीन्द्र भारती सोसाइटी के हाथ-ठाकुरबाड़ी

उस समय शांतिनिकेतन का आश्रम घोर आर्थिक संकट से गुजर रहा था। दिसंबर 1946 में समिति ने पाँच लाख रुपये 'विश्व भारती' को दिए। शेष राशि से ठाकुरबाड़ी के जो हिस्से बिक चुके थे, उन्हें खरीदा गया। मुख्य भवन, उससे संलग्न जमीन और कई मकानों को अधिकृत किया गया। संलग्न जमीन पर एक प्रेक्षागृह भी बनाया गया। समिति ने पाँच हजार दुर्लभ चित्रों को खरीदकर उनका संग्रह किया। इनमें 'ठाकुरबाड़ी' के पुराने तैलचित्र, 'ठाकुरबाड़ी' के सदस्यों द्वारा बनाए गए चित्र और अन्य विशिष्ट कलाकारों द्वारा निर्मित चित्र थे। इसके अतिरिक्त 'ठाकुरबाड़ी' की कई पुरानी चीजों को भी खरीदकर

उनका संग्रह किया गया। 5 जनवरी, 1947 को 'रवीन्द्र भारती सोसाइटी' की स्थापना हुई।

नई सांस्कृतिक अकादमी की स्थापना

उस समय बंगाल में नृत्य, गीत और अभिनय कला आदि की शिक्षा के लिए उच्च स्तरीय संस्थाओं का अभाव था। सरकार को अपने प्रचार विभाग के अंतर्गत लोकरंजन शाखा के लिए अच्छे कलाकारों की आवश्यकता थी। इसलिए सरकार ने समिति की अनुमति से ठाकुरबाड़ी के परिसर में 1956 में 'नृत्य, नाटक और संगीत अकादमी' की स्थापना की। इसके लिए जिस विशाल भवन का निर्माण किया गया था, उसका नाम 'संगीत भवन' रखा गया। ठाकुरबाड़ी के जिन हिस्सों में ठाकुर परिवार के लोग रह रहे थे, वे भी आर्थिक दुर्दशा के कारण ढहने को थे। राज्य सरकार ने ठाकुरबाड़ी को राष्ट्रीय संपत्ति बनाने के लिए ठाकुर परिवार से शेष संपत्ति को खरीद लिया। इसके साथ ही ललित कलाओं के विकास के लिए रवीन्द्रनाथ के शिक्षा विषयक आदर्शों के आधार पर एक विश्वविद्यालय की स्थापना का भी निर्णय लिया गया। 1961 का वर्ष रवीन्द्र जन्मशती का वर्ष था। पूरे देश में रवीन्द्रनाथ की जन्मशती धूमधाम से मनाई जा रही थी। उस उपयुक्त अवसर पर अपने प्रिय कवि को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री विधानचंद्र राय ने इसी वर्ष 'रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय' की स्थापना की। 1960 में ही रवीन्द्र जयंती के अवसर पर विश्वविद्यालय का शिलान्यास वे भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू से करवा चुके थे। नए विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ नृत्य, नाटक, संगीत, वाद्ययंत्र, चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला, ग्राफिक्स आदि की उच्चस्तरीय शिक्षा आरंभ हुई। 'रवीन्द्र भारती सोसाइटी' उसी प्रकार विश्वविद्यालय के प्रांगण में बनी रही। कुछ वर्षों पहले ही केंद्रीय सरकार का ध्यान ठाकुरबाड़ी की ओर गया और रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय का स्थानांतर बी.टी. रोड स्थित 'मरकत कुंज' में और 'ठाकुरबाड़ी' का विकास 'रवीन्द्र स्मारक' के रूप में किया गया है।

बारिजात बिल्डिंग, फ्लैट नं. 92,
24 ए, शैक्सपियर सरणि
कोलकाता-700017
मोबाइल : 09433156474

मध्यकालीन गुजरात की सांझी विरासत चंपानेर की मस्जिदें

राजेश कुमार सिंह



गुजरात राज्य के वडोदरा शहर के उत्तर-पूर्व में 45 कि. मी. की दूरी पर पंचमहल जिले में स्थित चंपानेर-पावागढ़ पुरातत्व स्थल को यूनेस्को द्वारा वर्ष 2004 में विश्व धरोहर घोषित किया गया। इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल के कई अवशेष और मध्यकाल की कई इमारतें विभिन्न अवस्थाओं में देखी जा सकती हैं।

चंपानेर-पावागढ़ पुरातत्व स्थल में पावागढ़ की पहाड़ी से लेकर तलहटी तक ढलानों एवं मैदानी सतह पर कई दुर्ग बनाए गए यथा मौलिया, पतई-रावल, माची, अटक, भद्र एवं जहाँपनाह। इनमें से प्रथम चार विभिन्न पठारों पर निर्मित हैं जबकि बाद के दो समतल भूमि पर निर्मित हैं। इन दुर्ग-समूहों में दसवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी के दौरान निर्मित अनेक मंदिर, जलाशय, प्राचीर, मस्जिद एवं भवनों का निर्माण हुआ।

हिंदू राजाओं ने पावागढ़ की पहाड़ी से शासन किया। 470-776 ई. के दौरान यहाँ मैत्रक शासकों का राज्य था। इस काल के कई सिक्के, जो यहाँ से उत्खनन में प्राप्त हुए हैं, इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। इतिहासकारों के अनुसार दसवीं शताब्दी से यहाँ किच्ची-चौहान राजाओं का शासनकाल था। मौलिया पठार पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित लकुलिशा मंदिर (जो यहाँ का प्राचीनतम मंदिर है) एवं तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में निर्मित कई जैन मंदिर, अभी भी श्रद्धालुओं को प्रतिवर्ष आकर्षित करते हैं।

गुजरात के सुलतान महमूद बेघदा ने 1484 ई. में अंतिम किच्ची राजा पतई-रावल को हराकर चंपानेर पर अपना आधिपत्य स्थापित किया और पहाड़ी से उतरकर तलहटी में अपनी राजधानी की नींव रखी। उसने अपनी नई राजधानी का नाम मुहम्मदाबाद रखा लेकिन प्रचलन में चंपानेर नाम प्रयुक्त होता रहा। 1484 से 1535 ई. तक शासन करने वाले मुस्लिम शासकों ने यहाँ कई दुर्ग, मकबरे, महल, स्मारक-भवन, मस्जिद, बगीचे, बारादरी, आरामगाह एवं बाजारों का निर्माण करवाया। 1535 ई. तक चंपानेर एक समृद्ध नगरी रही।

नगर में सुरक्षा के लिए दो दुर्ग स्थापित किए गए। बाहरी दुर्ग



‘जहाँपनाह’ की प्राचीर करीब छः किलोमीटर लंबी थी। इसके कुछ हिस्से ही अब देखे जा सकते हैं। यद्यपि चंपानेर अब खंडहरों से भरा है, फिर भी इन खंडहरों से नगर के भवनों और सड़कों के आयोजन की रूपरेखा स्पष्ट होती है। भीतरी दुर्ग यानी ‘भद्र’ दुर्ग में राजकीय अहाता बनाया गया। यह अहाता आयताकार था एवं ‘हिसार-ए-खास’ के नाम से जाना जाता था। इसमें कई महल, मस्जिद, बगीचे एवं प्रशासकीय भवन निर्मित किए गए। इनमें आने-जाने एवं चौकसी के लिए दो मंजिले दो प्रवेश द्वार-पूर्वीभद्र एवं दक्षिणी भद्र का निर्माण किया गया। नगर के द्वारों के नजदीक बड़ी-बड़ी मस्जिदों का निर्माण हुआ।

सुलतान बहादुर शाह के शासन के दौरान, 1535 ई. में मुगल शासक हुमायूँ के आक्रमण के उपरांत यहाँ से राजधानी अहमदाबाद स्थानांतरित हो गई। चंपानेर की विशेषता यह है कि यह मुगल काल से पूर्व का नगर है। चूँकि आक्रमण के बाद चंपानेर में पुनर्निर्माण नहीं हुआ, अतः यह मुगलकाल से पूर्व स्थापित नगरों के आयोजन की व्यवस्था एवं उस काल के स्थापत्य एवं वास्तुकला के बारे में व्यापक सूचना प्रदान करता है।

हुमायूँ के आक्रमण से चंपानेर की इमारतों को भारी नुकसान पहुँचा। प्रार्थना स्थल यानी मस्जिदें अपेक्षाकृत सुरक्षित रही। उत्तर भारत में जौनपुर 1394 से 1479 तक शराकी सुलतानों की समृद्धशाली राजधानी थी लेकिन पंद्रहवीं शताब्दी में बहलोल लोदी के समय जब आक्रमण हुआ तो जौनपुर में भी मुख्यतः मस्जिदें ही आक्रांताओं के

कोप से बच सकीं।

समय के साथ-साथ, मौसम के थपेड़ों ने चंपानेर की मस्जिदों को और भी क्षति पहुँचाई, फिर भी आज कई अच्छी अवस्था में देखी जा सकती हैं। वस्तुतः वर्तमान में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की देख-रेख में ये मस्जिदें मध्यकालीन गुजरात की भारतीय-इस्लामी वास्तुकला की एक अनूठी दास्तान बयान करती हैं। इन मस्जिदों में नगीना मस्जिद, केवड़ा मस्जिद, लीला गुंबद की मस्जिद, सहर की मस्जिद एवं जामी मस्जिद उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा एक मीनार की मस्जिद, बावामान मस्जिद एवं खजूरी मस्जिद भी देखी जा सकती हैं।

सहर की मस्जिद

सहर की मस्जिद भद्र दुर्ग के शाही अहाते में निर्मित की गई थी, अतः इसका प्रयोग शाही घराने के लोगों के निजी प्रयोग के लिए होता था। मुगल काल में दिल्ली एवं आगरा के किले में भी 'मोती मस्जिद' का निर्माण ऐसे ही उद्देश्य से किया गया था। इस मस्जिद में पाँच प्रवेश द्वार हैं। मुख्य द्वार के दोनों ओर मीनारें बनी हैं। अगल-बगल के प्रवेश द्वारों के साथ-साथ जालीदार झरोखे बने हैं। वजुह के लिए दक्षिण-पूर्व में एक चौकोर हौज निर्मित है। इस भव्य



इमारत की इबादतगाह में पाँच महराबें हैं जिनमें से केंद्रीय महराब सबसे ऊँची है। मस्जिद की पश्चिमी दीवार में मेहराबों के बगल में जालीदार खिड़कियाँ हैं। इस मस्जिद के अलावा शेष सभी मस्जिदें भद्र दुर्ग के बाहर निर्मित की गईं।

लीला गुंबद की मस्जिद

लीला गुंबद की मस्जिद एक ऊँचे चबूतरे पर बनी हुई है। मस्जिद में तीन प्रवेश द्वार हैं। केंद्रीय प्रवेश द्वार मेहराबदार है और बगल के द्वारों से ऊँचा है। इसके अगल-बगल शाखा-द्वार निर्मित हैं। इबादतगाह की तीनों मेहराबों पर पुष्प, घट एवं पल्लव द्वारा अलंकरण किया गया है। मध्य द्वार की दोनों ओर मीनारें बनी हैं जिनमें प्रथम तल तक सुसज्जित आलों को तराशा गया है। मीनारों का ऊपरी हिस्सा लुप्त हो गया है। इस मस्जिद के तीन गुंबदों में से मध्य गुंबद धारीदार है, जबकि अन्य सपाट हैं। मूलतः इस मस्जिद के गुंबद रंगीन थे। मस्जिद की उत्तर-पूर्व दिशा में वजुह करने के लिए एक आयताकार हौज बना है।

केवड़ा मस्जिद

इस मस्जिद की इबादतगाह दो मंजिला है जिसके दोनों ओर भी मीनारें हैं। मीनारों पर सुंदर नक्काशी की गई है और इनमें आले बने हुए हैं। आलों में बेल-बूटे एवं ज्यामितीय आकार उकरे गए हैं। मस्जिद के प्रवेश द्वारों के सापेक्ष प्रार्थनाकक्ष की छत पर तीन बड़े गुंबद बने थे और अगल-बगल अनेक छोटे गुंबद। दुर्भाग्य से इबादतगाह के ऊपर बने तीन गुंबदों में से केंद्रीय गुंबद अब लुप्त है। उल्लेखनीय है कि इस मस्जिद के मुख्य प्रवेश द्वार के दोनों ओर दो



गुजरात राज्य के वडोदरा शहर के उत्तर-पूर्व में 45 कि. मी. की दूरी पर पंचमहल जिले में स्थित चंपानेर-पावागढ़ पुरातत्व स्थल को यूनेस्को द्वारा वर्ष 2004 में विश्व धरोहर घोषित किया गया।



अतिरिक्त दरवाजे हैं। इन दरवाजों के अगल-बगल झरोखे बने हुए हैं। इनमें से एक जालीदार है। प्रवेश द्वारों के ऊपर ढलानदार छज्जे बने हैं। इस मस्जिद के अहाते में उत्तर-पूर्वी छोर पर चबूतरे पर एक चौकोर हौज बना है जिसका प्रयोग वजुह करने के लिए होता था। मस्जिद प्रांगण में एक कुआँ भी है। इस मस्जिद के सामने बने चबूतरे पर ही एक चौकोर स्मारक-मकबरा बना हुआ है जिसका केंद्रीय गुंबद धारीदार है, जबकि चारों ओर के गुंबदों की सतह सपाट है। इस खुले मकबरे के स्तंभ सूर्य की बदलती स्थिति के अनुसार रोशनी एवं छाया की अद्भुत छटा बिखेरते हैं।

नगीना मस्जिद

नगीना मस्जिद की बनावट भी केवड़ा मस्जिद की तरह है। मस्जिद के पास उत्तर-पूर्व में एक वर्गाकार स्मारक-मकबरा है। इसे प्रचुर मात्रा में सुसज्जित किया गया है। इस चौकोर स्मारक की चारों दिशाओं में मेहराबदार प्रवेश द्वार हैं। प्रवेश द्वार के अगल-बगल मेहराब बने हैं। मकबरों पर उकेरे गए नमूने इतने सुंदर हैं कि कला-इतिहासविदों के अनुसार नक्काशी की बारीकी और अलंकरण में केवल अहमदाबाद की सिद्दी सैयद की मस्जिद पर उकेरी गई जालियाँ ही इनसे श्रेष्ठतर हो सकती हैं।

पंच महुड़ा की मस्जिद

इस मस्जिद की दो मीनारें ही शेष हैं, जिनमें से एक चार मंजिला है। दिलचस्प तथ्य यह है कि सबसे निचली मंजिल पत्थरों की बनी हुई है जबकि बाकी मंजिलें ईंटों से निर्मित हैं। इस मीनार की मंजिलें अलग-अलग आकार की हैं। पहली मंजिल चौकोर, दूसरी अष्टाकार, तीसरी षोडषाकार एवं सबसे ऊपरी मंजिल वृत्ताकार है।

एक मीनार की मस्जिद

इस मस्जिद की केवल एक मीनार एवं मेहराब बचे हुए हैं। शेष सभी

हिस्से समय के साथ-साथ गायब हो गए हैं। इस मीनार की विशेषता यह है कि इसमें पाँच मंजिलें हैं। पंच महुड़ा की मस्जिद की तरह, अलग-अलग मंजिलों पर बाहरी आकार में विभिन्नता प्रदान की गई है। केवल तीसरी और चौथी मंजिल पर षोडषाकार की पुनरावृत्ति की गई है।

जामी मस्जिद

जामी मस्जिद न केवल चंपानेर वरन् गुजरात की प्रमुख मस्जिदों में से एक है। इस विशाल इमारत का निर्माण पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया गया। मस्जिद के प्रांगण में प्रवेश करने के लिए उत्तर, पूर्व एवं दक्षिण दिशाओं में अलग-अलग प्रवेश द्वार हैं। तीनों ही द्वार मंडपों से युक्त थे एवं सभी खुद में एक खूबसूरत नक्काशीदार इमारत थे। पूर्वी द्वार का मंडप जो अच्छी अवस्था में है, आकर्षक नक्काशी एवं महीन जाली कार्य के लिए विशेष महत्व का है। वास्तव में यह मंडप गुजरात की वास्तुकला का अप्रतिम उदाहरण है। मस्जिद का दालान काफी बड़ा है। दालान की तीन तरफ खंभों पर टिके हुए गलियारे हैं जो मेहराबदार प्रवेश द्वारों से युक्त हैं। दालान में एक मजार भी है। इस मस्जिद के प्रार्थना कक्ष के मुख्य प्रवेश द्वार की दोनों ओर ऊँची मीनारें हैं। इन मीनारों पर मस्जिद की





चिह्नों का अलंकरण के लिए प्राचीन काल से प्रयोग होता रहा है। मस्जिदों की पश्चिमी दीवार की बाहरी सतह पर नक्काशीदार अर्धस्तंभ बनाए गए हैं।

सामान्यतः मस्जिदों की इबादतगाह की छत में कोई खुलापन नहीं होता लेकिन चंपानेर की मस्जिदों में ऐसी व्यवस्था देखी जाती है। इबादतगाह के मध्य में छत को खोलकर खंभों को अतिरिक्त लंबाई प्रदान करके छतरियों एवं गुंबदों को एक या दो अतिरिक्त मंजिलों की ऊँचाई पर निर्मित किया गया है। ऐसा करने से इबादतगाह में रोशनी एवं हवा का प्रचुर संचरण सुनिश्चित हुआ। केवल सहर की मस्जिद में इस व्यवस्था का अपवाद देखा जाता है। संभवतः सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा किया गया होगा।

छत की सतह तक खूबसूरत नक्काशी की गई है। मस्जिद के चारों कोनों पर अपेक्षाकृत छोटी मीनारें बनी हैं।

उस मस्जिद की इबादतगाह की पश्चिमी दीवार पर सात मेहराबें बनी हैं। सभी मेहराबों पर अलंकरण किया गया है, किंतु मुख्य मेहराब पर सर्वाधिक अलंकरण देखा जा सकता है। जामी मस्जिद की एक और विशेषता यह है कि इबादतगाह के उत्तरी छोर पर स्त्रियों के लिए एक स्थान आरक्षित किया गया था। ऐसा करने के लिए एक खूबसूरत जालीदार पाषाण-पर्दे का प्रयोग किया गया है। इस कक्ष में प्रवेश के लिए अलग से एक द्वार भी निर्मित है। मस्जिद की उत्तर-पूर्वी दिशा की ओर एक बड़ा अष्टाकार वजुह तालाब है। जामी मस्जिद में वजुह हौज के आकार को अष्टाकार करके अन्य मस्जिदों के आयताकार या वर्गाकार से भिन्नता प्रदान की गई है। उल्लेखनीय यह भी है कि वजुह के लिए निर्मित हौज मस्जिद के अहाते के भीतर न होकर उसके बाहर निर्मित किया गया है। निस्संदेह चंपानेर की जामी मस्जिद इस काल का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसा माना जाता है कि जामी मस्जिद ने भारत में परवर्ती काल में बनने वाली कई मस्जिदों की वास्तुकला को प्रभावित किया।

चंपानेर की मस्जिदों की विशिष्ट वास्तुकला

चंपानेर की मस्जिदें वास्तुकला की कई विशेषताओं को दर्शाती हैं। मस्जिदों का निर्माण ऊँचे चबूतरे पर किया गया है। सभी मस्जिदें आयताकार हैं। इन मस्जिदों के इबादतगाह में तीन, पांच या सात मेहराबों का निर्माण किया गया है। मस्जिदों में पारंपरिक भारतीय एवं इस्लामी वास्तुकला के अनेक तत्वों का अद्भुत समावेश देखा जा सकता है। इन सभी की मीनारों एवं इबादतगाह की मेहराबों पर कुंभ, जंजीर एवं पुष्पों द्वारा अलंकरण हुआ है। मीनारों की निचली मंजिल पर समानांतर पट्टियाँ बनी हैं। भारतीय वास्तुकला में इन

चूँकि ज्यादातर मस्जिदों का निर्माण ईंटों की अपेक्षा पत्थरों से हुआ, इसलिए यहाँ छत को ढकने के लिए मूल भारतीय शैली का प्रयोग किया गया है जिनमें या तो मेहराबों का प्रयोग नहीं हुआ है या हुआ भी है तो वे वास्तविक नहीं हैं। इस कारण से इबादतगाह में स्तंभों की कई कतारें बनाई गईं और स्तंभों को आपस में सरदलों से जोड़ा गया ताकि गुंबदों को टिकाने की व्यवस्था की जा सके। गुंबदों के अंदर की छत पर खूबसूरत नक्काशी एवं कारीगरी भी की गई है।

सभी मीनारों के अंदर घुमावदार सीढ़ियाँ बनी हैं जो मस्जिद की छतों तक जाती हैं। छतों से आसपास के क्षेत्र का विहंगम दृश्य देखा जा सकता है। एक तरफ पहाड़ियाँ, उसकी तलहटी में बड़ा तालाब और आसपास पेड़ों के झुरमुट, ये सारे प्राकृतिक तत्व, चंपानेर की मस्जिदों को आज भी एक सुंदर परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं।

वस्तुतः चंपानेर की मस्जिदों में भारतीय वास्तुकला के विभिन्न आयाम देखने को मिलते हैं। इन मस्जिदों में प्राचीन भारतीय एवं मध्यकालीन इस्लामी तत्वों के सामंजस्य की प्रायोगिक सफलता प्राप्त की गई है। यद्यपि चंपानेर कुछ वर्षों के लिए ही राजधानी रही, किंतु उसकी इमारतें, विशेषकर मस्जिदें, एक विशिष्ट साँझी शैली को इंगित करती हैं जिनकी भारतीय कला पटल पर सर्वदा अमिट छाप रहेगी।

निदेशक

राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण

गृह मंत्रालय, भारत सरकार

एन.डी.एम.ए. भवन, ए-1, सफदरजंग एनक्लेव,

नई दिल्ली-110029

सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करता पूर्वोत्तर भारत

अखिलेश आर्यन्दु



भारतीय संस्कृति सभी संस्कृतियों में बेजोड़ मानी जाती है। यह विशेषता एक दो विशेष कारणों से नहीं प्रत्युत अनेक कारणों से है। भारत अखण्ड संस्कृतियों वाला महान देश कहा जाता रहा है। इस महानता के कारण ही विदेशी इसे सोने की चिड़िया से अभिहित किया करते थे। सांस्कृतिक, भाषाई और दार्शनिक रूप से भारत को अनेक संस्कृतियों, अनेक कलाओं, अनेक दर्शनों और अनेक भाषाओं वाला देश कहा जाता है। इसे हम पूर्वोत्तर में पग-पग पर देख सकते हैं। लोक कहावत है-दो कोस पर पानी बदले चार कोस पर बानी। यह बदलाव पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक संचेतना में भी दिखाई पड़ती है।

भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक विविधता का अनुपम खजाना है। देखा जाए तो त्रिपुरा, नागालैण्ड, मिज़ोरम, मणिपुर, सिक्किम, असम एवं मेघालय सभी की अपनी समृद्ध विरासत है। पूर्वोत्तर के सभी राज्य जनजातीय बाहुल्य हैं। इनके संस्कार, जीवन शैली, भाषा, बोली, लोकसाहित्य की अपनी विशेषता है। सरकार और स्वयंसेवी संस्थाओं तथा व्यक्तिगत प्रयासों से स्वतंत्रता के उपरान्त इन राज्यों को विकास की धारा से जोड़ने के लिए गम्भीर प्रयास किये गए, लेकिन आज भी अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहां अभी विकास की किरण नहीं पहुंच पाई है। इसके बावजूद वहां के निवासी विशेषकर जनजातीय समूह अपनी सांस्कृतिक और कलात्मक संचेतना बचाने में कामयाब हुए हैं। पूर्वोत्तर के इन जनजातीय समूहों ने अपनी परम्पराओं, संस्कारों, सामाजिक दायित्वों और भाषाई पहचान को बना कर रखा है। लेकिन कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं ने अपने सर्वेक्षण में यह खुलासा किया है कि पूर्वोत्तर की अनेक बोलियां और जनजातियां या तो विलुप्त हो गई हैं अथवा विलुप्त होने के कगार पर हैं।

पूर्वोत्तर के इन राज्यों का नाम वहाँ निवास करने वाली जनजातियों के नाम पर पड़ा है। जैसे मिज़ो जनजाति के नाम पर मिज़ोरम, नागा जाति के नाम पर नागालैण्ड, त्रिपुरी जनजाति के नाम पर त्रिपुरा। पूर्वोत्तर की ये जनजातियाँ तिब्बत की मूल निवासी कही जाती हैं। इनकी बोली 'मोंखमर' और 'तिब्बती-बर्मी' है। सभी जनजातियाँ अपनी

जनजातीय भाषा का प्रयोग अपने दैनिक जीवन में करती हैं। भाषा किसी भी संस्कृति की वाहक होती है। इस तथ्य से यह पता चलता है कि पूर्वोत्तर में जितनी जातियां हैं सब की अपनी-अपनी संस्कृति हैं। छोटे-छोटे समूह की भाषाएँ (बोलियाँ) अन्य जातियों के लोगों द्वारा नहीं समझी जाती हैं। लेकिन तिब्बती-बर्मी समूह के अन्तर्गत 62 भाषाएँ आती हैं जो कि भारत की जनसंख्या का एक प्रतिशत है।

पूर्वोत्तर का प्राकृतिक रूप से समृद्ध राज्य सिक्किम

पूर्वोत्तर का सिक्किम प्रान्त भाषाई और सांस्कृतिक रूप से अत्यन्त समृद्ध है। यहां के जनजातीय समूहों को क्रमशः लेपचा, भोटिया, शेरपा और तमांग कहा जाता है। लेपचा लोग तुलनात्मक दृष्टि से अपनी भाषा, संस्कृति और परम्परा से अधिक समृद्ध हैं। कहा जाता है, इनकी भाषा पांच हजार वर्ष पुरानी है। इस भाषा में शिक्षा, संस्कृति, कला, संस्कार और जीवनदर्शन द्रष्टव्य होते हैं। इससे यह तो पता चलता ही है कि लेपचा संस्कृति एक अत्यन्त समृद्धशाली संस्कृति है। इनकी अपनी धार्मिक परम्पराएँ, विश्वास, जीवनदर्शन और जीवन शैली है। इनका विश्वास है कि सृष्टि परमेश्वर इत बू देबू रम द्वारा की गई है। लेपचाओं की सबसे पुरानी लिपि 'नमथर्स' है जिसमें इनकी भाषा लिखी जाती है। इतिहासकारों के अनुसार स्वाधीनता के पूर्व अंग्रेजों ने अपनी भाषा और ईसाई संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए 1841 ई. में यहाँ प्रवेश कर लिया था। लेकिन ये अपने उद्देश्य- ईसाई मत के प्रचार-प्रसार में कामयाब नहीं हो सके थे। सिक्किम में एक अन्य जनजाति है तमांग। कहा जाता है, तमांगों की उत्पत्ति हिन्दू धर्म के ब्रह्मा, विष्णु और महेश की वंशावली में पाई जाती है।

प्रकृति की दिव्यता का केंद्र मिज़ोरम

मिज़ोरम अपनी सुन्दरता, उत्कृष्टता, प्रकृति की दिव्यता और संस्कृति की अद्भुत छटा के कारण अपनी अलग छवि प्रस्तुत करता है। यहाँ के लोगों की इससे ही पहचान बनती है। राज्य की लम्बाई उत्तर में दक्षिण तक 277 कि.मी. है जबकि पूर्व से पश्चिम की चौड़ाई 121



मिजोरम का हस्तशिल्प

कि.मी. है। इस राज्य की सीमा से तीन और केन्द्र शासित राज्यों की सीमाएँ लगती हैं। वे हैं—असम, त्रिपुरा और मणिपुर। मिजोरम आठ जनपदों में विभाजित है—ऐजावी, लुड्लेई, चम्पाई, मामित, कोलासिब, सेरछिप, धिमडुइपुई और जोड्ल्लाई। म्यांमार से सटे होने के कारण इन पर म्यांमार की संस्कृति का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

जहाँ तक मिजोरम के उद्भव का प्रश्न है, इसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं। एक मिथक के अनुसार, जो लियाङ्खाइया की पुस्तक में लिखा मिलता है, मिजो नेहा नामक व्यक्ति से तीन पुत्र पैदा हुए। उनमें से एक पुत्र जाफेथ के उत्तराधिकारी हैं। ऐसे ही और भी मिथक प्रचलित हैं। इन मिथकों में कितनी सच्चाई है, यह कह पाना मुश्किल है। लेकिन सच्चाई तथ्यपरक अवश्य है कि मिजो लोग बच्चों को ढकने के लिए जो वस्त्र प्रयोग में लाते हैं और उसमें जो आकृति बनाते हैं वह हू-ब-हू वही आकृति होती है जो मूसा की माँ ने मूसा को नदी में छुपाने के समय ढकने के लिए प्रयोग किये जाने वाले कपड़े की बनाई थी। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, मिजो लोग मिजो भाषा का प्रयोग करते हैं। लेकिन इनकी कोई अपनी लिपि नहीं है। इसका कारण है स्वतन्त्रता के पूर्व ही ईसाई मिशनरियों का यहाँ के लोगों का धर्म परिवर्तन कराकर इनको ईसाई बनाना और अंग्रेजी भाषा, यूरोपीय लिपि और ईसाइयत को बलात् थोपना। इस तथ्य की जानकारी 1870 में ही लै.कनल टी.एच. लोविन ने दे दी थी। मिजो भाषा रोमन लिपि में लिखी जाती है। मिजोरम की राजकीय भाषा मिजो-टोङ् है। यही यहाँ की मातृभाषा है। मिजो समाज मिजो लोगों का एक विशिष्ट समुदाय रहा है, जिसमें गाँव उसकी सबसे छोटी

इकाई हुआ करती है। सामान्य रूप से किसी पहाड़ की चोटी पर गाँव होते हैं। गाँव के मुखिया का घर सबसे बढ़िया और गाँव के मध्य में होता है। जोलबुक जो कुंवारों का विश्रान्ति-कक्ष होता है, गाँव के बीचोबीच उस स्थान पर होता है जिससे मुखिया कुंवारों की ठीक से देखरेख कर सके। जोलबुक मिजो समाज का एक अलग पहचान भी बनाता है। यह गाँव का ऐसा केन्द्र बिन्दु होता है जहाँ मिजो समाज के कुंवारे लड़के आकर रात भर सो सकें। यही युवाओं का शिक्षण केन्द्र भी है। यही संस्कार का भी केन्द्र होता है। लेकिन अब जोलबुक प्रभाव और महत्व पहले जैसा नहीं है। मिजो समाज में एक आचार और नैतिक संहिता बनाई गई है जिसे प्लोमड्इहना के नाम से जाना जाता है। यह शब्द कई सन्दर्भों और भावों को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जैसे दयालुता, साहस, परिश्रम, सत्कार, अतिथि सत्कार, निःस्वार्थ सेवा आदि। भारत के अन्य समुदायों व जातियों में अतिथि देवोभव की समृद्ध परम्परा रही है। यही परम्परा मिजो समाज में भी देखने को मिलती है। एक परम्परा के अनुसार मिजो लोगों का ऐसा विश्वास है कि ईश्वर ने उन्हें एक लिखित भाषा, एक चर्म पत्र या नक्काशीदार कुण्डलित अस्थि के रूप में दी थी, जैसा कि अन्य प्रजातियों को दी गई थी, परन्तु उन्होंने उसे संभालकर नहीं रखा। उनकी लापरवाही के चलते एक कुत्ते ने उसे खा लिया। इस प्रकार वे लम्बे समय तक किसी भी लिपि से वंचित रहे।

मिजो समाज में प्रचलित लोक कथाएँ उतनी ही प्राचीन रही हैं जितनी कि इस समाज का इतिहास। मिजो जनजातियों के जीवन में जनजातियों, कुलों एवं गाँवों में परस्पर युद्ध हुआ करते थे। मिजो समाज के अनेक समूहों में लड़ाइयाँ होती रहती थीं जिसका वर्णन लोककथाओं और कविताओं में मिल जाता है। मिजो समाज वर्ष में मुख्य रूप से तीन उत्सव मनाते हैं जिन्हें 'कूत' कहा जाता है। कृषि से सम्बन्धित होने के कारण ये तीनों उत्सव बहुत महत्व के होते हैं। इनका नाम है—चपचार कूत, मिमकूत एवं पोलकूत। सबसे बड़ा त्योहार चपचार कूत होता है। यह तीन दिनों तक अनवरत चलता रहता है जिसमें खाना-पीना एवं गाना-बजाना साथ-साथ चलता रहता है। चपचारकूत जिसे बसन्त ऋतु-उत्सव भी कहा जाता है, मुख्यतः वयस्कों का आनन्दोत्सव है।

दूसरा त्योहार मिमकूत कहा जाता है। मिमकूत का मतलब पतझड़ का ऐसा त्योहार जो फसल के पहले फल द्वारा मृतकों की स्मृति में सम्मान के साथ चढ़ाया जाता है। और तीसरा त्योहार पोलकूत धान की फसल आने के बाद मनाया जाता है। इसमें बच्चे एवं महिलाएँ

बहुत बड़ चढ़कर भाग लेते हैं। इसमें महिलाएँ और बच्चे मिलकर स्वादिष्ट पकवान बनाते हैं और एक चुनिन्दा अहाते में, जिसे लंगदाह कहते हैं, बड़े चाव, जोश-खरोश एवं आनन्दपूर्वक एक दूसरे को खिलाते हैं।

मिज़ो लोग संगीत एवं नृत्य प्रिय होते हैं। इनके लिए संगीत उतनी ही अपरिहार्य वस्तु है जितना जीवित प्राणियों के लिए वायु। संगीत इनके



मिज़ोरम का ग्राम नृत्य

जीवन का अन्तरंग भाग है। मिज़ो लोग पुराने समय से ही विभिन्न धुनों पर थिरकते रहे हैं। इनके यहाँ विशेष संगीत शैलियाँ प्रचलित हैं जिसे ओइथड्पाज़ाइ, ललथेरीज़ाइ, लियानछियारी ज़ाइ, दरयानी ज़ाइ और साइकूती ज़ाइ कहा जाता है।

मृत्यु के अवसर पर मिज़ो समाज में 'खोहारह्वा' नामक सात्वना गीत गाने की परम्परा है। जन्म तथा विवाह के अवसर पर खुशी के गीत गाए जाते हैं। मिज़ो समाज में लोकगीत, लोकनृत्य और लोककलाओं की एक लम्बी परम्परा है जो समय-समय पर विकसित हुए हैं। उन्हीं में एक 'चेरा नृत्य' भी है। इस प्रकार मिज़ो समाज जिसकी संस्कृति, कला एवं साहित्य अत्यन्त प्राचीन है, की अपनी अलग ही सांस्कृतिक विरासत है जिसे हर स्तर पर संरक्षित करने की आवश्यकता है।

उगते सूर्य का प्रदेश अरुणाचल

भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण और विविध संस्कृतियों और जातियों को समेटे पर्वत, वनों और झरनों से आच्छादित भगवान

भास्कर की प्रथम किरण का साक्षी प्रदेश अरुणाचल भला किसको आकृष्ट नहीं करता है। जनजातीय बाहुल्य यह प्रदेश अपनी अनोखी सुषमा से जहाँ लोगों को आकृष्ट करता है, वहीं पर विविध संस्कृतियों, कलाओं, लोककलाओं, लोक गाथाओं, शौर्य गाथाओं और लोक साहित्य की यहाँ समृद्ध परम्परा रही है। यहाँ के लोगों का स्वभाव विनम्र होता है। भारत के उत्तर-पूर्व में बसा यह रमणीय प्रदेश कई



अरुणाचल की वेशभूषा

विशिष्टताओं को समेटे हुए है। विभिन्न जातियों और संस्कृतियों वाला यह प्रदेश आर्थिक दृष्टि से भले ही प्रथम स्थान पर न हो लेकिन सांस्कृतिक रूप से यह बेहद सम्पन्न है। जिस प्रकार से विभिन्न जातियों की भिन्न-भिन्न संस्कृति है उसी प्रकार से इनकी भाषाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन अरुणाचल के शहरों में हिंदी, अंग्रेजी और अरुणाचली बोली जाती है। वैसे अरुणाचल में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं लेकिन कुछ प्रमुख जनजातियाँ जिसकी पहचान सांस्कृतिक और भाषाई रूप से है, वे हैं—तागिन, अका, अबोर, मोम्बा, गेलोंग, सिंगफो, मिश्मी, खोवा, ढपला, अपातनी, शेरडुम्पेन, खम्बट्टी।

तागिन जाति की संस्कृति, कला, परम्परा और जीवन-शैली अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकार की है। काया से सुन्दर, स्वभाव से विनम्र तागिन जाति के लोगों में अपनी संस्कृति, सभ्यता और कला के संरक्षण के प्रति गहरी संचेतना है। इसका प्रमाण है तागिन लोगों द्वारा 'सी-दोनाई' नामक त्योहार का बहुत ही श्रद्धा के साथ मनाना। यह त्योहार प्रति वर्ष 5 जनवरी से 8 जनवरी तक मनाया जाता है जिसमें सूर्य और पृथ्वी की पूजा की जाती है।

तागिन मिथक शास्त्रों के अनुसार मानव के चरित्र, आयु, व्यक्तित्व तथा प्रगति का निर्धारण अयु दोनाई करती है। अयु दोनाई ने अपने भीतर ही कई अन्य दैवी सत्ता या देवियों की रचना की है। इनके नाम हैं—नाइकी दोनाई, पाइली दोनाई, नाइमिर दोनाई, नाइगो दोनाई, नाइरियाम दोनाई तथा पाइली दोनाई। ऐसा कहा जाता है, सन्तुलित

व्यक्ति की फलता पर नाइकी दोनाई का प्रभाव होता है। अहंकारी, खतरनाक और विध्वंसकारी व्यक्तियों को नाइगो दोनाई तथा नाइकी दोनाई नियन्त्रित करते हैं। इसी प्रकार नाइरियम दोनाई के प्रभाव वाले बहिर्मुखी प्रकृति वाले होते हैं और नाइमर दोनाई से प्रभावित व्यक्ति अन्तर्मुखी स्वभाव के होते हैं तथा नाइतर दोनाई की छाया में आने वाले लोग प्रजनन-शक्ति से रहित हो जाते हैं।

तागिन जनजाति में एक लोकोक्ति प्रचलित है कि दोनाई का प्रकाश ही हमारा मार्गदर्शक है। यह इसलिए कि मानव चरित्र के विविध गुणों के निर्धारण के अतिरिक्त अयु दोनाई घरेलू पशुओं तथा मुर्गी-बतखों के बीजों का विभिन्न स्थानों पर रोपण का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न जानवरों और वस्तुओं के बनाने में अयु दोनाई की ही कृपा है।

प्राकृतिक सुषमा का अनुपम प्रदेश मेघालय

मेघ का गृह अर्थात् मेघालय शब्द भौगोलिक, प्राकृतिक, जलवायु और पर्यावरणीय दृष्टि से पूर्ण रूपेण सार्थक और सटीक प्रतीत होता है। इसके नामकरण का श्रेय प्रसिद्ध अन्तरराष्ट्रीय विद्वान भाषाविद् प्रो. सुनीत कुमार चटर्जी को जाता है। इसकी सीमाएँ बांग्लादेश को छूती हैं लेकिन इसकी सांस्कृतिक धारा कई अनेक संस्कृतियों से आप्लावित होती हुई आगे बढ़ती है। सन् 1971 में उत्तर पूर्व पुनर्संगठन अधिनियम पारित होने के साथ मेघालय राज्य अस्तित्व में आया और शिलांग इसकी राजधानी बनी। शिलांग की प्राकृतिक छटा इतनी सुन्दर है कि लोग इसे पूर्व का स्कॉटलैण्ड भी कह देते हैं। शिलांग को सात कुटियों वाला देश भी कहा जाता है। अन्य जातियों के अतिरिक्त मेघालय में भी अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं लेकिन खासी, जैन्तियाँ, पलार, बार, भोई, चकमा, गोरों, दिमासा, कचारी, हाजोंग, चोंगलोई, वियाते, लाखेर, पाबी, कोच, रावा, रियांग और हेंगना जनजाति प्रमुख हैं।

ऐसा कहा जाता है कि खासी जनजातियों में पुरातनकाल से अर्थात् सोति-जुक (सतयुग) से एक मिथक प्रचलित है कि सोती-जुक अर्थात् सतयुग में आकाश में रह रहे सोलह परिवारों में से नौ ने तो ऊपर आकाश-मण्डल में अपने अलौकिक घर में ही रहने का निश्चय किया, पर अन्य सात ने पृथ्वी पर आकर बसने का निर्णय किया। मेघालय वनों, पर्वतों और छोटी-छोटी नदियों से आच्छादित है। यहाँ लोगों की आजीविका मसाले, फूल और लकड़ियों से चलता है। यहाँ का समाज पुरुष प्रधान न होकर स्त्री प्रधान है। यह गौरव की

बात है, उत्तर-पूर्वी राज्यों में मेघालय ही एक ऐसा राज्य है जहाँ मातृ-सत्तात्मक परम्परा संचालित है।

मेघालय में कई नदियाँ बहती हैं जिनमें प्रमुख रूप से खासी पहाड़ियों में बहती हैं तो कई गारो पहाड़ियों में। गारो की पहाड़ियों में बहने वाली नदियाँ हैं-सिमसांग, रिन्नो, मांडा, दामरिंग और जिंजिराम। वहीं पर खासी पहाड़ियों से उत्तर की तरफ जो नदियाँ बहती हैं वे हैं-उमियाम, खीं, उमखेन एवं उमट्रिया। इसी प्रकार बांग्लादेश में जाने वाली नदियाँ जो जैन्तिया पहाड़ियों, उत्तरी कछार की पहाड़ियों की सीमा के बीच बहती हैं वे हैं-माफ्लांग, किन्शी, कुपली और उमड्वा।

इन नदियों के कलकल स्वर के मध्य मेघालयवासियों के जीवन-स्वर बराबर गुंजायमान होते रहते हैं। मेघालयवासियों के प्रमुख त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर विभिन्न प्रकार के लोक संगीत, नृत्य और नाटक के आयोजन होते रहते हैं। इनके त्योहारों में बेहदेइनखिलाम् फसल की बढ़िया पैदावार के समय जुलाई माह में मनाया जाता है। बेहदेइन का अर्थ डंडे से मार भगाना तथा खिलाम् का मतलब है प्लेग या महामारी। मेघालय का प्रसिद्ध नृत्य 'शाद' है। यहाँ दो प्रकार के नृत्य होते हैं। प्रथम प्रकार के नृत्य किसी समारोह के साथ जुड़े होते हैं तथा 'का शाद नियाम' कहे जाते हैं। दूसरे प्रकार का नृत्य आनंदोत्सव मनाने के लिए किया जाता है। इन्हें 'शाद रौंग' कहा जाता है। इन्हीं में कुछ और नृत्य इन नृत्यों से सम्बन्धित होते हैं। इसमें प्रथम है, 'का शाद नूहलिंग'- यह माइलियम साइमशिप द्वारा मॉनरियन में मनाया जाता है। दूसरा 'का शाद लेहनियामियूदुह' इडुह नामक स्थान में आयोजित होता है जो 'नाचमण्डी की देवी' को प्रसन्न करने तथा व्यापार की उन्नति के लिए किया जाता है। तीसरा नृत्य है 'का शाद इंगलैंग कारदौम'। यह नृत्य उमवांग के लोगों द्वारा उनकी रक्षा करने वाली देवी को प्रसन्न करने के लिए एक समारोह में आयोजित होता है। चौथे प्रकार का नृत्य 'का शाद सजेर' है। यह समारोह नृत्य नौंगवाह में 'कासेंग पाइनेह' रिति खरर लिंगदोह' द्वारा प्रत्येक वर्ष जनवरी माह के अन्तिम दिनों में आयोजित होता है। पाँचवा विशेष नृत्य 'का शाद इयरनियूह' जैन्तिया पहाड़ी जनपद में स्थित नरतियांग में बाजार की देवी को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। जीवन का अन्तिम संस्कार अंत्येष्टि के उपरान्त किया जाने वाला एक विशेष प्रकार का नृत्य है जिसे 'शाद नूह मेइरवा बाद फुरपेपवाह' कहते हैं।

खासी जनजाति में खासी-प्जार एक दूसरा समूह है। ये मानते हैं कि

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है। इसलिए उसकी मूर्ति या चिह्न नहीं बनाया जा सकता है। ईश्वर के इनके तीन आदेश हैं। 1-तिपकुर-तिप खा । इसका मतलब है अपने माता-पिता और सम्बन्धियों को जानो। 2-कामाड या का होम। इसका शाब्दिक अर्थ है सदाचारी बनो, अर्थात् सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करो। 3- तिप ब्रियू-तिप ब्लेई। इसका शाब्दिक अनुवाद है -मानव को जानो, ईश्वर को जानो। खासी-प्जार लोगों का विश्वास होता है कि मरने पर उसकी आत्मा पंख लगाकर ईश्वर के पास चली जाती है जिससे कि खिन्दाय ट्रैप (परिवार) में रह सके।

इस प्रकार मेघालय में निवास करने वाली जातियों की विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक एवं वैचारिक पहचान है जिससे इस प्रदेश की विशिष्टता का पता चलता है।

नदियों का संगम प्रदेश त्रिपुरा

असम, मिज़ोरम, बांग्लादेश और बंगाल की खाड़ी के मध्य स्थित एक छोटा-सा प्रदेश त्रिपुरा भारत का सुन्दर नदियों के संगम वाला प्रदेश है। पूर्वोत्तर का यह प्रदेश कई अर्थों में अनेक विशिष्टताओं को समेटे हुए है। जनजातीय बहुल यह प्रदेश जहाँ पौराणिक आख्यानों से जुड़ा है वहीं पर प्रकृति की विविधताओं से भी जुड़ा है। इसका इतिहास अत्यंत पुराना है। त्रिपुरा के उद्गम के सम्बन्ध में इतिहासकारों और विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार, इसकी उत्पत्ति कोक-बरोक भाषा के शब्द से हुई है, जिसमें 'त्रि' का अर्थ जल और 'परा' का अर्थ उपहार है। यह जल संकेतक है यानी नदियों का संगम वाला क्षेत्र। यह धारणा विद्वानों को अधिक मान्य है। एक अन्य मत के अनुसार इसकी उत्पत्ति राजा त्रिपुर के नाम से हुई। एक विचार इस सम्बन्ध में और भी है कि त्रिपुरा शब्द संस्कृत भाषा के शब्द पुर या पुरा से आया है जिसकी व्युत्पत्ति तीन शहरों के नाम से सम्बन्धित है। त्रिपुरा में रहने वाले लोगों को त्रिपुरी कहा जाता है। त्रिपुरा में सत्तर प्रतिशत लोग गैर जनजातीय हैं। इन सबकी अपनी संस्कृति और सभ्यता है। यहाँ जनजातियों की जनसंख्या 30 प्रतिशत लगभग है जिसमें कोक-बरोक बोलने वालों की संख्या आठ लाख से अधिक है। बरोक के अलावा यहाँ हिन्दी, अंग्रेजी और बांग्ला भाषा बोलने वाले भी हैं। बरोक भाषा एवं संस्कृति उतनी प्राचीन है जितने त्रिपुरावासी। विद्वानों के अनुसार बरोक शब्द बोरो या बोड़ो शब्द का रूपान्तरण है। एक अन्य मत के अनुसार बोरो शब्द तिब्बत के प्राचीन नाम बोड से आया है। कृषि और वन संस्कृति से सम्बद्ध बोरो लोगों का जीवन अत्यंत पारदर्शी

है। यह कहा जाता है कि बोरो लोग कभी तिब्बत में रहते थे और उनकी भाषा तिब्बतो-बर्मीज परिवार से संबद्ध थी। 1979 में राज्य सरकार ने कोक-बरोक को मान्यता दी। बोरोक की जीवन पद्धति और संस्कृति झूम खेती पर आश्रित रही है। समय व्यतीत होते जाने पर बोरो जाति (बोडा) ने अपनी मूल पहचान गंवा दी और वह केवल अपनी भौगोलिक पहचान से पहचानी जाने लगी।

त्रिपुरा में भील अनुसूचित जनजाति के रूप में जाने जाते हैं। देश में भील जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ी जनजाति है। यह भिलाला और भील गरसिया भी कही जाती है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। 'भील' शब्द का उद्गम द्रविड़ शब्द 'भील' से हुआ है जिसका अर्थ तीर होता है। भील चतुर धनुर्धारी होते हैं। महाभारत काल का 'भील' पुत्र एकलव्य इसी समुदाय से सम्बन्धित था। तीरंदाजी में भीलों का बहुत गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। भील योद्धा वंशज के हैं। कहा जाता है कि राजस्थान के डुंगरपुर, बांसवाड़ा तथा प्रतापगढ़ जनपदों की स्थापना एक भील मुखिया द्वारा की गई थी। प्राचीन डुंगरपुर, बांसवाड़ा, कोटा और प्रतापगढ़ में एक रिवाज था कि राजपूत राजाओं के राज्याभिषेक के समय अपने अंगूठे से चीरकर रक्त से राजा के मस्तक पर राजतिलक लगाते थे। यह प्रथा इस बात की सूचक थी कि राजपूतों ने बलपूर्वक उनका राज्य छीना था। महाराणा प्रताप की विश्व प्रसिद्ध लड़ाई में भीलों ने राणाप्रताप का साथ दिया था।

भीलों की शौर्य गाथाएँ आज भी गाई जाती हैं। इतिहासकार एम.ए. शेरिंग ने भीलों के इतिहास में लिखा है कि 'भील' भारतीय प्रायद्वीप की मूल प्रजाति से सम्बन्ध रखते हैं।' भीलों की साक्षरता दर बहुत कम है। अशिक्षा के कारण इनकी महिलाओं का हर प्रकार से शोषण किया जाता है। भीलों की बोली 'भीली' है। इस बोली की अपनी कोई लिपि नहीं है। इनके जीवनयापन का साधन कृषि है। कभी ये खानाबदोश हुआ करते थे। इनके गांव दूर-दूर होते हैं। भीलों का मुख्य त्योहार होली है। अन्य प्रमुख त्योहारों में वाबनि अर्थात् बीजारोपण का मौसम तथा निवासा है। यह त्योहार आषाढ़ और सावन में मनाया जाता है। धर्म और जादू भील संस्कृति के प्रमुख अंग हैं।

बोड़ो के बारे में चीन के राष्ट्रीय अभिलेखागार में संरक्षित इतिहास के अनुसार लोगों के एक समूह ने अपनी पितृभूमि को भूलकर तिब्बत से भारत में प्रवेश किया। इतिहासकार कहते हैं कि मंगोलियाई प्रजाति के इन लोगों को महाभारत में किरित कहा गया है। इसका पौराणिक संदर्भ भी है। कलिका पुराण और महाभारत तथा योगिनितंत्र जैसे

अन्य हिंदू धर्मग्रन्थों में मंगोलियनों का किरात के रूप में वर्णन किया गया है। ऐसी मान्यता है कि महाभारत युद्ध या उससे पूर्व बोरो या बोडो जनजाति पूर्वी बंगाल और असम में निवास करती थी। इतिहासकारों का अनुमान है कि महाभारत में वर्णित त्रिवेग राज्य ही वर्तमान में त्रिपुरा है।

त्रिपुरी समाज में लड़के-लड़की में भेद नहीं किया जाता है। पर्दा प्रथा किसी भी स्तर पर नहीं है। शिक्षा का स्तर पुरुष और महिला में लगभग संतुलित है। घर के कार्य स्त्री और पुरुष मिलकर करते हैं। त्योहारों, उत्सवों और पर्वों में संगीत और नृत्य का खुलकर प्रयोग किया जाता है। विवाह पारदर्शी तरीके से होते हैं। जात-पात, छुआछूत, ऊंचनीच जैसे भेदभाव किसी भी स्तर पर नहीं है। इस प्रकार त्रिपुरा का जीवन दर्शन एक सभ्य जीवन दर्शन है।

विविधताओं का सुरम्य प्रदेश नागालैण्ड

असम, मणिपुर और म्यांमार के मध्य भारत का एक सुरम्य प्रदेश नागालैण्ड पहाड़ों पर बसा हुआ है। इसका नाम नागा जाति से पड़ा है। यह जनजाति नागालैण्ड के अतिरिक्त असम, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश और बर्मा (म्यांमार) में भी निवास करती है। नागा का अर्थ विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न है। कछारी भाषा में नॉग्रा शब्द का मतलब योद्धा होता है। बर्मी भाषा में नाका (नागा) शब्द का अर्थ होता है-वे लोग जो कानों में कुंडल और बालियाँ पहनते हैं या कानों को छिदवाते हैं। कहने का मतलब नागा का कोई एक अर्थ नहीं होता है बल्कि यह बहुअर्थी है। इन सभी अर्थों में एक बात सामान्य है कि ये लोग बहादुर होते हैं और सुन्दरता पसंद करते हैं। विद्वानों के अनुसार नागा जाति-समूह में जितनी भी जनजातियाँ होती हैं, सभी की सांस्कृतिक, भाषाई और परम्पराएँ मिलती-जुलती हैं।

नागालैण्ड में अनेक विरोधी भाषा समूह हैं। लेकिन इन भाषा समूहों का उतना प्रभाव इस प्रदेश में नहीं है जितनी नई भाषा 'जेलियांग्रोंग' का। यह भाषा नागालैण्ड में बोली जाने वाली जेमी भाषा का वर्णसंकर है। इसी प्रकार इस प्रदेश में एक अन्य भाषा जो बहुतायत से प्रयोग की जाती है वह है -'चकेसंग'। इसके अतिरिक्त सम्पर्क भाषा हिंदी भी यहाँ के लोगों में लोकप्रिय हो रही है। पूर्वोत्तर में हिंदी एक सम्पर्क भाषा का प्रयोग जनजातीय समाज अंतर जनजातीय संवाद के लिए करते हैं।



नागा और अन्य जातियों का परिवार आज भी संयुक्त परिवार हैं। घर में पुरुष ही मुखिया होता है। लेकिन वह सबकी सलाह से कार्य करता है। स्त्रियों के प्रति भेदभाव कम ही होता है। उत्तर भारत जैसी समस्याओं से यहाँ की स्त्री बची हुई है। इससे वह हर कार्य में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती है। आधुनिकता का प्रभाव धीरे-धीरे इनके घरों तक पहुँच रहा है। इससे इनमें बदलाव आया है। रहन-सहन और अन्य बातों में नागालैण्ड के लोग अब पहले से कहीं बहुत अधिक आगे बढ़ चुके हैं।

सांस्कृतिक चेतना का केन्द्र असम

पूर्वोत्तर क्षेत्र की हम यदि चर्चा करें और असम की बात न करें तो बात अधूरी रह जाती है। बांग्लादेश और चीन की सीमा से लगने वाला यह सुन्दर प्रदेश पुरातनकाल से ही विदेशी आक्रमणों का साक्षी रहा है। यह वह प्रदेश है जहाँ आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, संगीत और साहित्य की धारा पुरातन काल से ही प्रवाहित होती आई है। प्रकृति ने इस प्रदेश को हाथ खोलकर सुन्दरता प्रदान की। पहाड़ियों और वनों के मध्य बसा यह प्रदेश और भी कई विशेषताओं के कारण जाना जाता है। देश-दुनिया के लोग असम की सुन्दरता, चाय बागानों और यहाँ स्थित मंदिरों, नदियों को देखने नहीं आते प्रत्युत यहाँ की कला, संगीत, सांस्कृतिक चेतना भी लोगों को आकर्षित करती आई है। न जाने कितने आश्रम, मठ, अनाथालय और शिक्षा के केन्द्र ऐसे हैं जो बेसहाराँ का सहारा बनते हैं। जब असम का नाम लेते हैं तो ब्रह्मपुत्र नदी का नाम अपने आप अंतः चेतना में आ जाता है। यह वह प्रदेश है जहाँ लाचिंत वरफुकन जैसे

योद्धा, तो कनकलता जैसी वीरांगनाएँ हुई। इसके अतिरिक्त न जाने कितने संगीतकारों और साहित्यकारों की स्थली रहा है यह प्रदेश।

असम का अर्थ होता है जो सम न हो, यानी जो असमान न हो। भूमि से लेकर जीवन के हर क्षेत्र में यहाँ इतनी विविधता है कि कोई भी विदेशी यहाँ आकर खो जाता है। सांस्कृतिक धाराओं की असमानता हो, भाषाई असमानता हो, आर्थिक असमानता हो, भौगोलिक असमानता हो या जीवनदर्शन की असमानता हो, सभी यहाँ की विशेषता है। यह देखने वाली बात है कि असमानता कभी गुण नहीं माना जाता है लेकिन असम के सम्बन्ध में यह बात ठीक विपरीत ठहरती है। यह बात कही जाती है कि जिस क्षण लोग असम की विशेषताओं से पूरी तरह परिचित हो जाएँगे, उस क्षण उन्हें यह स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि असम तुलनात्मक दृष्टि से औरों से भिन्न है—इसलिए इसका नाम असम है। जो भी हो, असम अपने आप में देश का महान गौरव क्षेत्र है।

असम की सांस्कृतिक और सांगीतिक धारा अत्यंत समृद्ध रही है और आज भी ये दोनों धाराएँ लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। अन्य जातियों के अतिरिक्त यहां बोडो, गारो, राभा, चकमा, हाजोंग, खासी, जैन्तियाँ, कुकी, मिसाव, दिमास, कचारी, जोगवे, लेगथांग, सुकते, थाडु, मिकीर, मिरी, होजाई बोरो एवं सिन्टेंग सहित अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। 29 लाख से अधिक इन जनजातियों की अपनी संस्कृति और भाषा है। लेकिन अन्य जातियाँ जिनका असम में बहुत बड़ा योगदान है वह भी अद्भुत ही है। असम में बोडो, राभा, कुकी, खासी एवं कचारी जनजातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों द्वारा लिखे गए साहित्य का बहुत महत्त्व है।

यहां की लोक गाथाएं, शौर्य गाथाएं और लोक नाट्य की बहुत पुरानी समृद्ध परम्परा रही है। यहां प्रत्येक जाति में धार्मिक गीत, बसंत ऋतु के गीत, विवाहोत्सव के गीत, गोपालक गीत, लोरी गीत, क्रीड़ा गीत, शिकारी गीत और गाथा गीत बहुत ही चाव के साथ गाए जाते हैं।

भारत में शिशुगीत या लोरी गीत का प्रचलन लगभग प्रत्येक जाति एवं समाज में रहा है। लोरी गीत माता-पिता एवं बाबा-आजी के द्वारा बच्चों को सुलाने के लिए गाए जाते हैं। ऐसा ही प्रचलन असम में भी है। असम की अनेक जातियों में यह मिथक विभिन्न रूपों में आज भी प्रचलित है। ये मिथक उनकी मौलिक कथाओं और सामाजिक मूल्यों की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार असम में बरगीत का बहुत महत्त्व है। बरगीत का मतलब होता है बड़ा गीत। इस शब्द का अर्थ है महान और सर्वोच्च। बरगीतों में तीन श्रेणियाँ पाई जाती हैं। प्रातःकाल में गाए जाने वाला बरगीत में अनेक कथानक पिरोए गए हैं। इसमें श्याम, कल्याण और अहीर आदि राग प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार दोपहर में गाए जाने वाले बरगीत में भटियाली और बसंत आदि रागों का समावेश किया गया है और संध्या के समय गाए जाने वाले बरगीत में माहुर और आसावरी आदि रागों को निबद्ध किया गया है। अब बरगीतों का प्रयोग जात्र और नाटक में किया जाने लगा है। एक जनश्रुति के अनुसार महामानव शंकरदेव ने 240 बरगीतों की रचना की थी। लेकिन इनके संरक्षण न होने के कारण अब 34 बरगीत ही शेष बचे हैं। इसके बाद शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने 151 बरगीतों का सृजन किया।

असम में गीत, संगीत, नृत्य के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के साहित्य सृजन की एक बहुत पुरानी परम्परा है जिसमें असम की सांस्कृतिक, सामाजिक, प्राकृतिक और भौगोलिक छटा का वर्णन किया गया है।

ए-11, त्यागी विहार, नांगलोई,
दिल्ली-41
मोबाइल : 09868235056

भारतीय डाक



India Post

आपका पत्र मिला



‘संस्कृति’ का ‘कश्मीर विशेषांक’ प्राप्त हुआ, आभारी हूँ। प्रदेश विशेष की संस्कृति को आपके कुशल सम्पादन ने ‘गागर में सागर’ भर दिया है जो सामान्य जन ही नहीं विशिष्ट जन के लिए भी उपयोगी एवं संग्रहणीय बन पड़ा है। पत्रिका की त्रुटिहीन छपाई, सामग्री तथा ‘दृष्टि’ की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है।

श्रीधर बर्वे, से०नि० प्राचार्य,

ई-2704, सुदामानगर, इन्दौर, मध्य प्रदेश

इस पत्रिका में कश्मीर की संस्कृति का अच्छा वर्णन है। सभी विषयों को इसमें लिखा गया है। भाषा, वेषभूषा, वास्तुकला, लोकगीत, वहां के संत कवि के बारे में ज्ञानवर्धक लेख हैं। भारत सरकार का संस्कृति मंत्रालय बहुत अच्छा कार्य कर रहा है। प्रसन्नता होती है, ऐसी अच्छी हिंदी में छपी पत्रिकाओं को पढ़कर।
पुनः धन्यवाद।

विनोद शंकर गुप्ता,

ओ०पी० जिन्दल मार्ग, हिसार

‘कश्मीर विशेषांक’ के रूप में पत्रिका को देखकर काफी प्रसन्नता हुई। कश्मीर की संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। कश्मीर की विरासत पर हरेक भारतीय को गर्व है। साहित्य, लोक साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, भाषा, इतिहास, पुरातत्व, पर्यटक स्थल से संबंधित विभिन्न आलेख एवं चित्र कश्मीर के बारे में अद्यतन जानकारी देते हैं। कश्मीरी मूल के विद्वानों द्वारा लिखे गए सभी लेख तथा आपका सारगर्भित सम्पादकीय बहुत पसन्द आया।

डॉ० जनार्दन यादव,

पो० नरपतगंज, जिला अररिया, बिहार

आपके द्वारा प्रेषित भारतीय संस्कृति को परिभाषित करती कश्मीर की उज्ज्वल, भव्य संस्कृति के दर्शन करवाती, भारत के स्वर्ग की सैर करवाती ‘संस्कृति’ का 19वां अंक प्राप्त हुआ। पत्रिका की तारीफ हेतु शब्द नहीं हैं मेरे पास। निःसंदेह पत्रिका काफी उत्कृष्ट है। पत्रिका में प्रकाशित लेख, लेखकों के अभूतपूर्व ज्ञान दर्शन के परिचायक हैं। इस साहित्यिक, सांस्कृतिक दर्शनों के लिए मन हमेशा लालायित रहता है। उम्मीद है, भविष्य में भी ये लालसा पूर्ण होती रहेगी।

ममता मेहता,

अमरावती, महाराष्ट्र

गत अनेक वर्ष से संस्कृति का मानद अंक इस संस्था को प्राप्त होता रहा है। वस्तुतः भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित यह पत्रिका स्वराष्ट्र, संस्कृति, समाज और साहित्य के समवेत दर्शन का एक अनूठा प्रयोग है। आपके इस सराहनीय ही नहीं अपितु स्पृहणीय प्रयास को पाने की लालसा सतत बनी रहती है। सचमुच इसकी स्तरीय, प्रामाणिक एवं विश्वसनीय लेखन सामग्री अध्येता वर्ग और बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणा की अनन्य स्रोत है।

डा० वी०ए० जैमिनी,

प्रबंधक, एम०एच० पी०जी० कालेज, मुरादाबाद

संस्कृति का कश्मीर विशेषांक मेरे सामने है—कश्मीरी संस्कृति को समग्रता से अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास करता हुआ विषय — चयन आपकी सम्पादकीय टीम को साधुवाद का पात्र बनाता है। आपकी सांस्कृतिक — साहित्यिक सुरुचि का परिचय पिछले कई अंकों के सम्पादकीय में दिखा।

बशीर अहमद मयूख,

विज्ञान नगर, कोटा

संस्कृति पत्रिका का कश्मीर विशेषांक, अंक-19 अति सुन्दर, आकर्षक, विविध सामग्री से बेजोड़ है। अंक मनभावन, ज्ञानवर्धक है, पठनीय है। संकलन और प्रकाशन के लिए आप सभी अभिनन्दन के पात्र हैं।

हसमुखभाई रामदेवपुत्रा,
कोठारीया रोड, राजकोट, गुजरात

पिछले अंकों की भांति यह अंक भी सराहनीय है। कश्मीर विशेषांक छापकर एक नई शुरुआत की है। इतना ही नहीं, इस अंक के सारे लेखक मूलतः संबंधित क्षेत्र के हैं। सभी निबंध रोचक तथा ज्ञानवर्धक हैं। इस क्रांतिकारी कदम के लिए पत्रिका परिवार एवं संस्कृति मंत्रालय को मेरी तरफ से बधाई।

डॉ० सर्जुन प्रसाद,
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण
पुराना किला, नई दिल्ली

दूर प्रदेश की सभ्यता, इतिहास और संस्कृति से परिपूर्ण अंक में सूर्योपासना केंद्र, क्षेत्रीय शैव-परम्परा, संदर्भों सहित अमरनाथ यात्रा, स्थानीय लोकनाट्य संगीत का अनुपम प्रस्तुतीकरण 'संस्कृति' पत्रिका के कश्मीर विशेषांक, अंक 19 के रूप में प्राप्त कर घर बैठे कश्मीर यात्रा का सुखांत अवसर मिला।

डॉ० सुरेन्द्र चौरसिया,
दमोह, मध्य प्रदेश

धर्म, परंपरा, भाषा, वास्तुकला संबंधी उत्कृष्ट रचनाएं पारायण करने पर यही कहना होगा कि शोध, अन्वेषण, अनुशीलन, विवेचन में वैविध्य एवं रोचकता है। भाषा, साहित्य व संस्कृतिगत समन्वय से परिपूर्ण अन्तः सामग्री के साथ प्रकृति की उदात्त रमणीयता का मनोरम छायांकन पत्रिका के आकर्षण एवं पठनीयता में योगदान कर रही है।

डॉ० सर्वदानंद द्विवेदी,
उन्नाव, उत्तर प्रदेश

कश्मीर की संस्कृति पर यह विशेषांक दस्तावेजी महत्व का है। विशेषांक में कश्मीर की संस्कृति के सभी आयामों पर आधिकारिक एवं विद्वत्तापूर्ण रूप में प्रकाश डाला गया है। विद्वत्तापूर्ण आलेखों से विशेषांक लैस है। पहली बार इस अंक में कश्मीरीयत पर मौलिक दृष्टि से लिखा गया आलेख पढ़ने को मिला। धार्मिक सहिष्णुता एवं भाईचारा कश्मीरीयत की मूल पहचान है जो आज की तारीख में मिथक है। आपने यह विशेषांक निकाल कर मुझ जैसे व्यक्तियों को भीतर से बेचैन कर दिया है। श्रेष्ठ प्रस्तुति के लिए बधाई।

डॉ० लखन लाल सिंह 'आरोही',
खैरा, जिला बांका, बिहार

कश्मीर पर दुर्लभ सामग्री एवं चित्रों से परिपूर्ण यह अंक पठनीय और संग्रहणीय है। सभी लेख उपयोगी और जानकारी देने वाले हैं।

विष्णु वर्मा,
ग्राम ककोली, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश

पत्रिका पढ़ने योग्य तथा ज्ञानवर्द्धक है। पत्रिका की जो साज-सज्जा की गई है, वह बड़ी मनमोहक है।

डॉ० शशि बाला रावत,
श्रीनगर, गढ़वाल, उत्तराखंड

आतंक से सहमी कश्मीरी धरती के अन्य सुखद और सकारात्मक आयामों को आपने इस अंक में बड़े करीने और सजीवता से समाहित किया है। यह आपकी भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और प्रतिबद्धता की परिचायक है। विभिन्न पहलुओं को आलोकित करता यह अंक पाठकों में कश्मीर के प्रति प्रेम, सद्भाव, स्नेह और संवेदना की नई ऊष्मा भरेगा।

रजनीकांत पाण्डेय 'व्याकुल',
अरुणाचल प्रदेश

संपादक मंडल एवं सर्व लेखकों का यह साहित्य यज्ञ, सांस्कृतिक यश प्रशंसनीय एवं वंदनीय है। आपका परिश्रम, चयन सामग्री में कुशलता एवं सांस्कृतिक मूल्यों की निष्ठा से सभी शत-शत बधाइयों के पात्र हैं। आप अखण्ड भारत की चेतना को जोड़ने का भागीरथ कार्य कर रहे हैं।

डॉ० हर्षदेव माधव,
बोपाल, अहमदाबाद

पत्रिका में कल और आज के कश्मीर से बखूबी पहचान कराई गई। 'संस्कृति' के विशेषांक के साथ एक खूबसूरत कैलेण्डर भी दिया गया है, उसने अंक की सुन्दरता और उपादेयता दोनों में बढ़ोतरी की है। इस कैलेण्डर में कश्मीर का नैसर्गिक सौंदर्य खिल-खिल उठा है। 'संस्कृति' के इस विशेषांक में विद्वानों के आलेख प्रकाशित किए गए हैं। इन आलेखों ने कश्मीर के पौराणिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पक्ष के साथ-साथ प्रदेश की बेटियों की गौरव-गरिमा के साथ परिचित किया है। इस विशेषांक को आद्योपांत पढ़ने के बाद कश्मीर के प्रति आकर्षण और भी बढ़ जाता है।

युगेश शर्मा,
भोपाल, मध्य प्रदेश

आलेख ज्ञानवर्द्धक एवं मूल्यपरक होने के कारण शोधार्थियों तथा अनुसंधानकर्ताओं के लिए विशेष उपयोगी होंगे, ऐसी आशा है। 'संस्कृति' पत्रिका सचमुच में ही साहित्य और संस्कृति के मणिकांचन योग की उत्कृष्ट मिसाल है। यह ऐतिहासिक अंक न केवल कश्मीरी संस्कृति के लिए मील का पत्थर प्रमाणित होगा, अपितु संस्कृति मंत्रालय के लिए भी एक धरोहर के रूप में अपनी याद बनाए रखेगा।

डॉ० सुरेन्द्र गुप्त,
महेश नगर, अम्बाला छावनी

आपने सही समय पर यह सुन्दर संस्कृति विशेषांक निकाल कर कश्मीर को एक अलग दृष्टि से लोगों के सामने प्रस्तुत कर हम सब कश्मीरियों पर बहुत बड़ा एहसान किया है। संस्कृति पत्रिका का यह अंक हर घर में तथा हर ग्रंथागार में सुरक्षित रहना चाहिए। आपकी मेहनत और संपादकीय कला सराहनीय है।

डॉ० रूपकृष्ण भट,
द्वारका, नई दिल्ली

'संस्कृति' के कश्मीर विशेषांक में आपने जो सामग्री जुटाई है, वह न केवल पठनीय है, संग्रहणीय भी है। मुझे पूरा विश्वास है कि लोग इसे एक संदर्भ ग्रंथ की भांति सहेज कर रखेंगे।

डॉ० दुर्गाप्रसाद अग्रवाल,
चित्रकूट, जयपुर

आपके प्रयत्न से इसका हर पन्ना न केवल सुन्दर साज-सज्जित है, बल्कि उसमें संस्कृति की गाथा कूट-कूट कर भरी है, जो इसकी विशेषता है और इस बार के अंक के बारे में कहना क्या? कश्मीर विशेषांक ने भारतवासियों को हमारे भारत के भू-स्वर्ग कहने वाले कश्मीर की संस्कृति, लोक कला, लोक गीत, भाषा जैसे सारे अनजान तथ्य उपहार स्वरूप दिए हैं। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यह अंक भी पहले की तरह मन लुभावन अंक साबित होगा।

विनय कुमार दास,
बालेश्वर, ओडिशा

हमेशा की तरह प्रस्तुत अंक भी अनूठा, बेहद रोचक और ज्ञानवर्धक है। कश्मीर विशेषांक के सभी लेख अप्रतिम और बेमिसाल हैं। विभिन्न स्थानों के छायाचित्र एवं सुन्दर छपाई ने चार चांद लगा दिए हैं।

डॉ० दीप्ति परमार,
राजकोट, गुजरात



रंग संयोजन-02, 2013 कैनवास पर तैल रंग, 90 x 120 सें.मी.

चित्रकार: डॉ. अवधेश मिश्र, लखनऊ